रसीदी टिकट



अमृता अपने निजी कक्ष में : १९७६


रसीदी टिकट
अमृता प्रीतम

एक दिन खुशवन्तसिंह ने बातों-बातों में कहा, "तेरी जीवनी का क्या है, बस एक-आध हादसा। लिखने लगो तो रसीदी टिकट की पीठ पर लिखी जाए।'

रसीदी टिकट शायद इसलिए कहा कि बाकी टिकटों का साइज़ बदलता रहता है पर रसीदी टिकट का वही छोटा-सा रहता है।

ठीक ही कहा था—जो कुछ घटा, मन की तहों में घटा, और वह सब नज़्मों और नॉवलों के हवाले हो गया। फिर बाकी क्या रहा?

फिर भी कुछ पंक्तियां लिख रही हूं—कुछ ऐसे, जैसे ज़िन्दगी के लेखे-जोखे के काग़ज़ों पर एक छोटा-सा रसीदी टिकट लगा रही हूं—नज़्मों और नॉवलों के लेखे-जोखे की कच्ची रसीद को पक्की रसीद करने के लिए।

अमृता प्रीतम


आत्मकथा

क्या यह क़यामत का दिन है?

ज़िंदगी के कई वे पल जो वक़्त की कोख से जन्मे, और वक़्त की क़ब्र में गिर गए, आज मेरे सामने खड़े हैं···

यह सब क़ब्रें कैसे खुल गईं? और यह सब पल जीते-जागते क़ब्रों में से कैसे निकल आए?

यह जरूर क़यामत का दिन है···

यह १९१८ की क़ब्र में से निकला हुआ एक पल है—मेरे अस्तित्व से भी एक बरस पहले का। आज पहली बार देख रही हूं, पहले सिर्फ़ सुना था।

मेरे मां-बाप दोनों पंचखंड भसोड़ के स्कूल में पढ़ाते थे। वहां के मुखिया बाबू तेजासिंहजी की बेटियां उनके विद्यार्थियों में थीं। उन बच्चियों को एक दिन न जाने क्या सूझी, दोनों ने मिलकर गुरुद्वारे में कीर्तन किया, प्रार्थना की, और प्रार्थना के अन्त में कह दिया, दो जहानों के मालिक ! हमारे मास्टर जी के घर एक बच्ची बख्श दो।'

भरी सभा में पिताजी ने प्रार्थना के शब्द ये सुने तो उन्हें मेरी होने वाली मां पर गुस्सा आ गया। उन्होंने समझा कि उन बच्चियों ने उसकी रज़ामन्दी से यह प्रार्थना की है। पर मां को कुछ मालूम नहीं था। उन्हीं बच्चियों ने ही बाद में बताया कि अगर हम राज बीबी से पूछतीं तो वह शायद पुत्र की कामना करतीं—पर वे अपने मास्टर जी के घर लड़की चाहती हैं, अपनी ही तरह एक लड़की।

यह पल अभी तक उसी तरह चुप है—कुदरत के भेद को होंठों में बन्द करके हौले से मुसकराता, पर कहता कुछ नहीं। उन बच्चियों ने यह प्रार्थना क्यों की ? उनके किस विश्वास ने सुन ली ? मुझे कुछ नहीं मालूम। पर यह सच है कि साल के अन्दर राज बीबी 'राज मां' बन गयी।

और उससे भी दस बरस पहले—

समय की क़ब्र में सोया हुआ एक वह पल जाग उठा है, जब बीस बरस की राज बीबी ने गुजरांवाला में साधुओं के एक डेरे मे माथा टेका था और उसकी नज़र कुछ उतने ही बरस के एक 'नंद' नाम के साधु पर जा पड़ी थी।

साधु नंद साहूकारों का लड़का था। जब छ: महीने का था, तब मां 'लक्ष्मी' मर गई थी। उसकी नानी ने उसे अपनी गोद में डाल लिया था और अनाज फटकने वाली एक औरत के दूध पर पाल लिया था। नंद के चार बड़े भाई थे और एक बहन—पर भाइयों में से दो मर गए, एक भाई 'गोपालसिंह' घर-गृहस्थी छोड़कर शराबी हो गया, और एक 'हाकिमसिंह' साधुओं के डेरे जाकर बैठ गया। नंद का सारा स्नेह अपनी बहन 'हाको' से हो गया था।

बहन बड़ी थी, बेहद खूबसूरत। जब ब्याह हुआ तब अपने पति बेलासिंह को देखकर उसने एक ज़िद पकड़ ली कि उससे उसका कोई संबंध नहीं। गौने पर ससुराल जाने की जगह उसने अपने मायके में एक तहखाना खुदवा लिया, और चालीसा खींच लिया। गेरुआ बाना पहन लिया। रात को कच्चे चने पानी में भिगो देती और दिन में खा लेती। नंद ने भी बहन की रीस में गेरुए वस्त्र पहन लिये। पर बहन बहुत दिन जीवित नहीं रही। उसकी मृत्यु से नंद को लगा कि संसार से सच्चा वैराग्य उसे अब हुआ है। अपने साहूकार नाना सरदार अमरसिंह

सचदेव से मिली हुई भारी जायदाद को त्यागकर वह सन्त दयालजी के डेरे में जा बैठा। संस्कृत सीखी, ब्रजभाषा सीखी, हिकमत सीखी, और डेरे में 'वालका साधु' कहलाने लगा। वहन जब जीवित थी, मामा-मामी ने कहीं अमृतसर में नंद की सगाई कर दी थी, नंद ने वह सगाई छोड़ दी और वैरागी होकर कविताएं लिखने लगा।

राज वीवी गांव मांगा, जिला गुजरात, की थीं—अदला-वदली में व्याही हुई। जिससे ब्याह हुआ था, वह फ़ौज में भरती होकर गया था, फिर उसकी कोई ख़बर नहीं आयी। उदास और निराश वह गुजरांवाला के एक छोटे-से स्कूल में पढ़ाती थी। स्कूल जाने से पहले अपनी भाभी के साथ दयालजी के डेरे में माथा टेकने आया करती थी। भाई मर गया था, भाभी विधवा थी। पर अव दोनों अकेली और उदास, एक स्कूल में पढ़ाती थीं, एक साथ रहती थीं। एक दिन जव दोनों दयालजी के डेरे आयीं, ज़ोर से मेह वरसने लगा। दयालजी ने मेह का समय बिताने के लिए अपने 'वालका साधु' से कविता सुनाने के लिए कहा। वह सदा आंखें मूंदकर कविता सुना करते थे। उस दिन जब आंखें खोलीं तो देखा—उनके नंद की आंखें राज वीवी के मुंह की तरफ़ भटक रही हैं। कुछ दिनों वाद उन्होंने राज वीवी की व्यथा सुनी और नंद से कहा, 'नंद वेटा ! जोग तुम्हारे लिए नहीं है। यह भगवे वस्त्र त्याग दो और गृहस्थ आश्रम में पैर रखो।'

यही राज वीवी मेरी मां वनीं और नंद साधु मेरे पिता। नंद ने जव गृहस्थ आश्रम स्वीकार किया, अपना नाम करतारसिंह रख लिया। कविता लिखते थे, इसलिए एक उपनाम भी—पीयूष ! दस वर्ष वाद जव मेरा जन्म हुआ, उन्होंने पीयूष शब्द का पंजावी में उल्था करके मेरा नाम अमृत रख दिया और अपना उपनाम 'हितकारी' रख लिया।

फ़कीरी और अमीरी दोनों मेरे पिता के स्वभाव में थीं। मां वताया करती थी—एक वार उनका एक गुरु-भाई (सन्त दयालजी का एक और चेला), सन्त हरनामसिंह, कहने लगा कि उसका बड़ा भाई व्याह करवाना चाहता है। अच्छी-भली सगाई होते-होते रह गयी, क्योंकि उसके पास रहने के लिए अपना मकान नहीं है। पिताजी के पास अभी भी अपने नाना की जायदाद में से एक मकान वचा हुआ था, कहने लगे, "अगर इतनी-सी वात के पीछे उसका व्याह नहीं होता तो मैं अपना मकान उसके नाम लिख देता हूं"—और अपना एकमात्र मकान उसके नाम लिख दिया। फिर सारी उम्र किराए के मकानों में रहे, अपना मकान नहीं वना सके, पर मैंने उनके चेहरे पर कोई शिकन कभी नहीं देखी।

पर मैंने उनके चेहरे पर एक वहुत वड़ी पीड़ा की रेखा देखी—मैं कोई दस-ग्यारह वरस की थी, मां मर गयीं। वह जीवन से फिर विरक्त हो गए। पर मैं उनके लिए एक वहुत वड़ा वन्धन थी। मोह और वैराग्य दोनों उन्हें एक-दूसरे से

विपरीत दिशा में खींचते थे। कई पल ऐसे भी आते थे—मैं विलख उठती, मेरी समझ में नहीं आता था मैं उन्हें स्वीकार थी या अस्वीकार···

अपना अस्तित्व—एक ही समय में, चाहा और अनचाहा लगता था···

क़ाफ़िये-रदीफ़ का हिसाव समझाकर मेरे पिता ने चाहा था मैं लिखूं। लिखती रही—मेरा ख़याल है पिता की नज़र में जितनी भी अनचाही थी, वह भी चाही वनने के लिए।

आज आधी सदी के वाद सोचती हूं—जैसे फ़कीरी और अमीरी, दोनों एक ही समय में, मेरे स्वभाव में हैं, और यह स्वभाव, अपने नैन-नक़्श की तरह मुझे पिता से मिला है, शायद उनकी नज़र भी मेरी नज़र में शामिल है—कभी यही पता नहीं लगता कि मैं अपनी नज़र में स्वीकार हूं या नहीं—शायद इसीलिए सारी उम्र लिखती रही कि मेरी नज़र में जो कुछ मेरा अनचाहा है, वह सारा मेरा चाहा वन जाए···

जैसे, तव भी दुनिया के वारे में नहीं सोचती थी—सोचती थी कि पिता मेरे साथ ख़ुश हों, आज भी दुनिया के वारे में नहीं सोचती—सिर्फ़ सोचती हूं कि अपना आप मेरे साथ ख़ुश हो···

पिता से कभी झूठ नहीं वोला, अपने आप से भी नहीं वोल सकती···

यह एक वह पल है—

जव घर में तो नहीं, पर रसोई में नानी का राज होता था। सवसे पहला विद्रोह मैंने उसके राज में किया था। देखा करती थी कि रसोई की एक परछत्ती पर तीन गिलास, अन्य वरतनों से हटाए हुए, सदा एक कोने में पड़े रहते थे। ये गिलास सिर्फ़ तव परछत्ती से उतारे जाते थे जव पिताजी के मुसलमान दोस्त आते थे और उन्हें चाय या लस्सी पिलानी होती थी और उसके वाद मांज-धोकर फिर वहीं रख दिए जाते थे।

सो, उन तीन गिलासों के साथ मैं भी एक चौथे गिलास की तरह रिल-मिल गयी और हम चारों नानी से लड़ पड़े। वे गिलास भी वाकी वरतनों को नहीं छू सकते थे, मैंने भी ज़िद पकड़ ली कि मैं और किसी वरतन में न पानी पीऊंगी, न दूध-चाय। नानी उन गिलासों को ख़ाली रख सकती थी, लेकिन मुझे भूखा या प्यासा नहीं रख सकती थी, सो वात पिताजी तक पहुंच गयी। पिताजी को इससे पहले पता नहीं था कि कुछ गिलास इस तरह अलग रखे जाते हैं। उन्हें मालूम हुआ तो मेरा विद्रोह सफल हो गया। फिर न कोई वरतन हिन्दू रहा, न मुसलमान।

उस पल न नानी जानती थी, न मैं, कि वड़े होकर ज़िन्दगी के कई वरस जिस से मैं इश्क़ करूंगी वह उसी मजहव का होगा जिस मजहव के लोगों के लिए घर

के बरतन भी अलग रख दिए जाते थे। होनी का मुंह अभी देखा नहीं था, पर सोचती हूं, उस पल कौन जाने उसकी ही परछाईं थी जो वचपन में देखी थी···

परछाइयां बहुत बड़ी हक़ीक़त होती हैं।

चेहरे भी हक़ीक़त होते हैं। पर कितनी देर? परछाइयां, जितनी देर तक आप चाहें···चाहें तो सारी उम्र। बरस आते हैं, गुज़र जाते हैं, रुकते नहीं। पर कई परछाइयां, जहां कभी रुकती हैं, वहीं रुकी रहती हैं···

यूं तो हर परछाईं किसी काया की परछाईं होती है, काया की मोहताज। पर कई परछाईं ऐसी भी होती हैं, जो इस नियम के बाहर होती हैं, काया से भी स्वतंत्र।

और यूं भी होता है कि एक परछाईं न जाने कहां से, और किस काया से टूटकर, तुम्हारे पास आ जाती है, और तुम उस परछाईं को लेकर दुनिया में घूमते रहते हो और खोजते रहते हो कि यह जिस काया से टूटी है वह कौन-सी है?···ग़लतफ़हमियों का क्या है? हो जाती हैं। तुम यह परछाईं ग़ैरों के गले से लगाकर भी देखते हो, न जाने उसी के माप की हो! नहीं होती, न सही। तुम फिर उसे—अंधेरे-से को—पकड़कर, वहां से चल देते हो···

मेरे पास भी एक परछाईं थी।

नाम से क्या होता है, उसका एक नाम भी रख लिया था—राजन! घर में एक नियम था कि सोने से पहले 'कीर्तन सोहिले'[1] का पाठ करना होता था, इसके संबंध में पिताजी का विश्वास था कि जैसे-जैसे इसे पढ़ते जाते हो तुम्हारे गिर्द एक क़िला बनता जाता है, और पाठ के समाप्त होते ही तुम सारी रात एक क़िले की सुरक्षा में रहते हो, और फिर सारी रात बाहर से किसी की मजाल नहीं होती कि वह उस क़िले में प्रवेश कर सके। तुम हर प्रकार की चिन्ता से मुक्त होकर सारी रात सो सकते हो।

यह पाठ सोते समय करना होता था। आंखें नींद से भरी होती थीं, इतनी कि नींद के ग़लबे में यह अधूरा भी रह सकता था। सो, इस संबंध में उनका कहना था कि अन्तिम पंक्ति तक इसे पूरा करना ही है। अगर अन्तिम पंक्तियां छूट जाएं तो क़िलेबंदी में कोई कोर-कसर रह जाती है, इसलिए वह पूरी रक्षा नहीं कर सकता। सो, अन्तिम पंक्ति तक यह पाठ करना होता था।

बहुत बच्ची थी। चिन्ता हुई कि इस पाठ के बाद मेरे गिर्द क़िला बन जाएगा, तो फिर राजन मेरे सपने में किस तरह आएगा? मैं क़िले के अंदर होऊंगी, वह क़िले के बाहर रह जाएगा···सो, सोचा कि पाठ कंठस्थ है, अपनी

---

१. गुरु ग्रंथ का एक अंश-विशेष

विपरीत दिशा में खींचते थे। कई पल एसे भी आते थे—मैं लिख उठती, न समझ में नहीं आता था मैं उन्हें स्वीकार थी या अस्वीकार…

अपना अस्तित्व—एक ही समय में, चाहा और अनचाहा लगता था…

क़ाफ़िये-रदीफ़ का हिसाब समझाकर मेरे पिता ने चाहा था मैं लिखूं। लिखती रही—मेरा ख़याल है पिता की नज़र में जितनी भी अनचाही थी, वह भी चाही बनने के लिए।

आज आधी सदी के बाद सोचती हूं—जैसे फ़कीरी और अमीरी, दोनों एक ही समय में, मेरे स्वभाव में हैं, और यह स्वभाव, अपने नैन-नक्श की तरह मुझे पिता से मिला है, शायद उनकी नज़र भी मेरी नज़र में शामिल है—कभी यही पता नहीं लगता कि मैं अपनी नज़र में स्वीकार हूं या नहीं—शायद इसीलिए सारी उम्र लिखती रही कि मेरी नज़र में जो कुछ मेरा अनचाहा है, वह सारा मेरा चाहा बन जाए…

जैसे, तब भी दुनिया के बारे में नहीं सोचती थी—सोचती थी कि पिता मेरे साथ खुश हो, आज भी दुनिया के बारे में नहीं सोचती—सिर्फ़ सोचती हूं कि अपना आप मेरे साथ खुश हो…

पिता से कभी झूठ नहीं बोला, अपने आप से भी नहीं बोल सकती…

यह एक वह पल है—

जब घर में तो नहीं, पर रसोई में नानी का राज होता था। सबसे पहला विद्रोह मैंने उसके राज में किया था। देखा करती थी कि रसोई की एक परछत्ती पर तीन गिलास, अन्य बरतनों से हटाए हुए, सदा एक कोने में पड़े रहते थे। ये गिलास सिर्फ़ तब परछत्ती से उतारे जाते थे जब पिताजी के मुसलमान दोस्त आते थे और उन्हें चाय या लस्सी पिलानी होती थी और उसके बाद मांज धोकर फिर वहीं रख दिए जाते थे।

सो, उन तीन गिलासों के साथ मैं भी एक चौथे गिलास की तरह रिल-मिल गयी और हम चारों नानी से लड़ पड़े। वे गिलास भी बाकी बरतनों को नहीं छू सकते थे, मैंने भी ज़िद पकड़ ली कि मैं और किसी बरतन में न पानी पीऊंगी, न दूध-चाय। नानी उन गिलासों को खाली रख सकती थी, लेकिन मुझे भूखा या प्यासा नहीं रख सकती थी, सो बात पिताजी तक पहुंच गयी। पिताजी को इससे पहले पता नहीं था कि कुछ गिलास इस तरह अलग रखे जाते हैं। उन्हें मालूम हुआ तो मेरा विद्रोह सफल हो गया। फिर न कोई बरतन हिन्दू रहा, न मुसलमान।

उस पल न नानी जानती थी, न मैं, कि बड़े होकर ज़िन्दगी के कई बरस जिसे मैं इश्क़ करूंगी वह उसी मज़हब का होगा जिस मज़हब के लोगों के लिए घ

के वरतन भी अलग रख दिए जाते थे। होनी का मुंह अभी देखा नहीं था, पर सोचती हूं, उस पल कौन जाने उसकी ही परछाईं थी जो वचपन में देखी थी···

परछाइयां बहुत बड़ी हक़ीक़त होती हैं।

चेहरे भी हक़ीक़त होते हैं। पर कितनी देर? परछाइयां, जितनी देर तक आप चाहें···चाहें तो सारी उम्र। बरस आते हैं, गुज़र जाते हैं, रुकते नहीं। पर कई परछाइयां, जहां कभी रुकती हैं, वहीं रुकी रहती हैं···

यूं तो हर परछाईं किसी काया की परछाईं होती है, काया की मोहताज। पर कई परछाईं ऐसी भी होती हैं, जो इस नियम के बाहर होती हैं, काया से भी स्वतंत्र।

और यूं भी होता है कि एक परछाईं न जाने कहां से, और किस काया से टूटकर, तुम्हारे पास आ जाती है, और तुम उस परछाईं को लेकर दुनिया में घूमते रहते हो और खोजते रहते हो कि यह जिस काया से टूटी है वह कौन-सी है?···ग़लतफ़हमियों का क्या है? हो जाती हैं। तुम यह परछाईं ग़ैरों के गले से लगाकर भी देखते हो, न जाने उसी के माप की हो! नहीं होती, न सही। तुम फिर उसे—अंधेरे-से को—पकड़कर, वहां से चल देते हो···

मेरे पास भी एक परछाइँ थी।

नाम से क्या होता है, उसका एक नाम भी रख लिया था—राजन! घर में एक नियम था कि सोने से पहले 'कीर्तन सोहिले'[1] का पाठ करना होता था, इसके संबंध में पिताजी का विश्वास था कि जैसे-जैसे इसे पढ़ते जाते हो तुम्हारे गिर्द एक क़िला बनता जाता है, और पाठ के समाप्त होते ही तुम सारी रात एक क़िले की सुरक्षा में रहते हो, और फिर सारी रात बाहर से किसी की मजाल नहीं होती कि वह उस क़िले में प्रवेश कर सके। तुम हर प्रकार की चिन्ता से मुक्त होकर सारी रात सो सकते हो।

यह पाठ सोते समय करना होता था। आंखें नींद से भरी होती थीं, इतनी कि नींद के ग़लवे में यह अधूरा भी रह सकता था। सो, इस संबंध में उनका कहना था कि अन्तिम पंक्ति तक इसे पूरा करना ही है। अगर अन्तिम पंक्तियां छूट जाएं तो क़िलेबंदी में कोई कोर-कसर रह जाती है, इसलिए वह पूरी रक्षा नहीं कर सकता। सो, अन्तिम पंक्ति तक यह पाठ करना होता था।

बहुत बच्ची थी। चिन्ता हुई कि इस पाठ के बाद मेरे गिर्द क़िला बन जाएगा, तो फिर राजन मेरे सपने में किस तरह आएगा? मैं क़िले के अंदर होऊंगी, वह क़िले के बाहर रह जाएगा···सो, सोचा कि पाठ कंठस्थ है, अपनी

१. गुरु ग्रंथ का एक अंश-विशेष

विपरीत दिशा में खींचते थे। कई पल ऐसे भी आते थे—मैं विलख उठती, मेरी समझ में नहीं आता था मैं उन्हें स्वीकार थी या अस्वीकार···

अपना अस्तित्व—एक ही समय में, चाहा और अनचाहा लगता था···

क़ाफ़िये-रदीफ़ का हिसाव समझाकर मेरे पिता ने चाहा था मैं लिखूं। लिखती रही—मेरा खयाल है पिता की नज़र में जितनी भी अनचाही थी, वह भी चाही वनने के लिए।

आज आधी सदी के वाद सोचती हूं—जैसे फ़कीरी और अमीरी, दोनों एक ही समय में, मेरे स्वभाव में हैं, और यह स्वभाव, अपने नैन-नक़्श की तरह मुझे पिता से मिला है, शायद उनकी नज़र भी मेरी नज़र में शामिल है—कभी यही पता नहीं लगता कि मैं अपनी नज़र में स्वीकार हूं या नहीं—शायद इसीलिए सारी उम्र लिखती रही कि मेरी नज़र में जो कुछ मेरा अनचाहा है, वह सारा मेरा चाहा वन जाए···

जैसे, तव भी दुनिया के वारे में नहीं सोचती थी—सोचती थी कि पिता मेरे साथ खुश हो, आज भी दुनिया के वारे में नहीं सोचती—सिर्फ़ सोचती हूं कि अपना आप मेरे साथ खुश हो···

पिता से कभी झूठ नहीं वोला, अपने आप से भी नहीं वोल सकती···

यह एक वह पल है—

जव घर में तो नहीं, पर रसोई में नानी का राज होता था। सवसे पहला विद्रोह मैंने उसके राज में किया था। देखा करती थी कि रसोई की एक परछत्ती पर तीन गिलास, अन्य वरतनों से हटाए हुए, सदा एक कोने में पड़े रहते थे। ये गिलास सिर्फ़ तव परछत्ती से उतारे जाते थे जव पिताजी के मुसलमान दोस्त आते थे और उन्हें चाय या लस्सी पिलानी होती थी और उसके वाद मांज-धोकर फिर वहीं रख दिए जाते थे।

सो, उन तीन गिलासों के साथ मैं भी एक चौथे गिलास की तरह रिल-मिल गयी और हम चारों नानी से लड़ पड़े। वे गिलास भी वाकी वरतनों को नहीं छू सकते थे, मैंने भी ज़िद पकड़ ली कि मैं और किसी वरतन में न पानी पीऊंगी, न दूध-चाय। नानी उन गिलासों को खाली रख सकती थी, लेकिन मुझे भूखा या प्यासा नहीं रख सकती थी, सो वात पिताजी तक पहुंच गयी। पिताजी को इससे पहले पता नहीं था कि कुछ गिलास इस तरह अलग रखे जाते हैं। उन्हें मालूम हुआ तो मेरा विद्रोह सफल हो गया। फिर न कोई वरतन हिन्दू रहा, न मुसलमान।

उस पल न नानी जानती थी, न मैं, कि वड़े होकर ज़िन्दगी के कई वरस जिस से मैं इश्क़ करूंगी वह उसी मजहव का होगा जिस मजहव के लोगों के लिए घर

के बरतन भी अलग रख दिए जाते थे। होनी का मुंह अभी देखा नहीं था, पर सोचती हूं, उस पल कौन जाने उसकी ही परछाईं थी जो बचपन में देखी थी…

परछाइयां बहुत बड़ी हक़ीक़त होती हैं।

चेहरे भी हक़ीक़त होते हैं। पर कितनी देर? परछाइयां, जितनी देर तक आप चाहें…चाहें तो सारी उम्र। बरस आते हैं, गुज़र जाते हैं, रुकते नहीं। पर कई परछाइयां, जहां कभी रुकती हैं, वहीं रुकी रहती हैं…

यूं तो हर परछाईं किसी काया की परछाईं होती है, काया की मोहताज। पर कई परछाईं ऐसी भी होती हैं, जो इस नियम के बाहर होती हैं, काया से भी स्वतंत्र।

और यूं भी होता है कि एक परछाईं न जाने कहां से, और किस काया से टूटकर, तुम्हारे पास आ जाती है, और तुम उस परछाईं को लेकर दुनिया में घूमते रहते हो और खोजते रहते हो कि यह जिस काया से टूटी है वह कौन-सी है?…ग़लतफ़हमियों का क्या है? हो जाती हैं। तुम यह परछाईं ग़ैरों के गले से लगाकर भी देखते हो, न जाने उसी के माप की हो! नहीं होती, न सही। तुम फिर उसे—अंधेरे-से को—पकड़कर, वहां से चल देते हो…

मेरे पास भी एक परछाईं थी।

नाम से क्या होता है, उसका एक नाम भी रख लिया था—राजन! घर में एक नियम था कि सोने से पहले 'कीर्तन सोहिले'[१] का पाठ करना होता था, इसके संबंध में पिताजी का विश्वास था कि जैसे-जैसे इसे पढ़ते जाते हो तुम्हारे गिर्द एक क़िला बनता जाता है, और पाठ के समाप्त होते ही तुम सारी रात एक क़िले की सुरक्षा में रहते हो, और फिर सारी रात बाहर से किसी की मजाल नहीं होती कि वह उस क़िले में प्रवेश कर सके। तुम हर प्रकार की चिन्ता से मुक्त होकर सारी रात सो सकते हो।

यह पाठ सोते समय करना होता था। आंखें नींद से भरी होती थीं, इतनी कि नींद के ग़लबे में यह अधूरा भी रह सकता था। सो, इस संबंध में उनका कहना था कि अन्तिम पंक्ति तक इसे पूरा करना ही है। अगर अन्तिम पंक्तियां छूट जाएं तो क़िलेबंदी में कोई कोर-कसर रह जाती है, इसलिए वह पूरी रक्षा नहीं कर सकता। सो, अन्तिम पंक्ति तक यह पाठ करना होता था।

बहुत बच्ची थी। चिन्ता हुई कि इस पाठ के बाद मेरे गिर्द क़िला बन जाएगा, तो फिर राजन मेरे सपने में किस तरह आएगा? मैं क़िले के अंदर होऊंगी, वह क़िले के बाहर रह जाएगा…सो, सोचा कि पाठ कंठस्थ है, अपनी

---

१. गुरु ग्रंथ का एक अंश-विशेष

चारपाई पर बैठकर धीरे-धीरे करना है, मैं याद से इसकी कुछ पंक्तियां छोड़ दिया करूंगी, क़िला पूरी तरह बंद नहीं होगा, और वह उस खुली जगह से होकर आ जायेगा···

पर पिताजी ने इस नियम का रूप बदल दिया। इसकी जगह सब अपनी-अपनी चारपाई पर बैठकर अपना-अपना पाठ करें। उन्होंने यह नियम बना दिया कि मैं अपनी चारपाई पर बैठकर ऊंचे स्वर से पाठ करूंगी, और सब अपनी-अपनी चारपाई पर बैठे उसे सुनेंगे। यह शायद इसलिए कि दूर रिश्ते में एक लड़का और एक छोटी बच्ची पिताजी के पास ही रहते और पढ़ते थे, और उस छोटी बच्ची को यह पाठ याद नहीं होता था।

सो पाठ की कोई भी पंक्ति छोड़ी नहीं जा सकती थी। एक-दो बार छोड़ने की कोशिश की, पर पिताजी ने भूल की शोध करवाकर वे पंक्तियां भी पढ़वा दीं। फिर बहुत सोचकर यह युक्ति निकाली कि 'कीर्तन सोहिले' का पाठ करने से पहले मैं राजन का ध्यान करके उसे अपने पास बुला लिया करूं ताकि वह क़िले की दीवारों के निर्माण होने से पहले ही क़िले के अंदर आ जाया करे।

तब दस बरस की थी, आज चालीस बरस बाद उस बात को सोचती हूं तो लगता है जिस भी अस्तित्व के लिए यह लगन थी वह वृथा नहीं गयी। मेरे गिर्द सुरक्षात्मक क़िले बने भी हैं, और टूटे भी, पर उसका अस्तित्व किसी न किसी रूप में सदा मेरे साथ रहा है—कभी मनुष्य के रूप में, कभी कलम की सूरत में, और कभी ईश्वर की ज़ात की तरह एक से अनेक होते हुए—किसी किताब के पृष्ठों में से भी उभरता है और किसी कैनवस में से भी निकलकर बाहर उतर आता है। और धुएं की लकीर में से जिन्न के प्रकट होने की तरह, यह कभी किसी गीत के स्वरों से भी निकल आता है, किसी फूल की खिलती हुई पंखुड़ी में से भी, और समुद्र के पानियों में हिलते हुए चांद के साये से भी। और घोर एकाकीपन के समय यह नदियों को चीरकर भी मिला है—मेरे शरीर की नाड़ियों में बहते हुए लहू की नदियों को चीरकर, और इसके अस्तित्व के साथ उपरामता का ज़र्द रंग भी सुर्ख़ हो जाता है।'

यह—अब हाड़-मांस की दिखाई देने वाली काया से लेकर, रंगों और सुगंधों में से गुज़रता, विचारों और सपनों की उस सीमा तक व्यापक हो गया है जहां किसी राह चलते की छोटी-सी अच्छाई भी 'उसका' अस्तित्व मालूम होती है, और आंखों में पानी भर आता है। मेरे लिए निराकार कुछ नहीं है। हर वस्तु का अस्तित्व हाड़-मांस की तरह है, जिसे हाथ से छू सकती हूं, जिसका अहसास मेरे शरीर में से गुज़र सकता है।

छुटपन में जब हरगोविन्दजी का या गुरु गोविन्दसिंह का सपना आता था

तो मैं उनके घोड़े को, या बाज़ को, या गले में पड़ी हुई तलवार को सदा हाथ से छूकर देखती थी, दूर से प्रणाम करके नहीं। उसी तरह फूलों और पत्तियों की टहनियां मैं बांहों में भर लेती थी। अब भी—किसी से गले मिलने की तरह। सारा शरीर सिहर उठता है, और उनकी कसाहट से मेरा सांस तेज़ हो जाता है।

बहुत बरसों की बात है—एक बार कोई पास बैठा हुआ था। उसकी जेब में जो रूमाल था वह मैला था। उसे रूमाल की ज़रूरत पड़ी, तो नया रूमाल देकर उसका मैला रूमाल ले लिया, पास रख लिया। वह बहुत बरस तक मेरे पास रहा। जब कभी उस रूमाल पर हाथ पड़ जाता था, माथे की नसें कस जाती थीं।

कुछ बीज न जाने कैसे होते हैं कि एक बार लहू-मांस में उग जाएं, तो फिर चाहे कैसी आंधियां आएं, कैसा ही सूखा पड़ जाए, उनके पत्ते झड़ जाएं, टहने टूट जाएं, पर वे जड़ों से नहीं उखड़ते।

एक 'किसी चेहरे का तसव्वुर', और दूसरा 'अक्षरों का अदब'—ऐसे ही बीज थे जो बाल अवस्था में मेरे अन्दर उग गए। फिर विश्वास टूटे, और ऐसे टूटे कि, सोचती हूं, इन दोनों पेड़ों को जड़ों से उखड़ जाना चाहिए था। कभी लगता भी है कि इनका नाम-निशान तक नहीं रहा, पर मन की सूखी मिट्टी में से फिर इनकी कोंपलें निकल आती हैं, टहनियां बन जाती हैं, उन पर बौर आ जाता है और मेरे सांसों में से उनकी सुगंध आने लगती है···

इन जादुई पेड़ों का एक बीज मैंने अपने हाथों से बोया था, पर दूसरा मेरे पिता ने। किसी किताब का पृष्ठ धरती पर पड़ा हो तो वह उसे अदब से उठा लेते थे। अगर भूल से मेरा पैर पृष्ठ पर आ जाता तो वह नाराज़ होते थे। सो अक्षरों का अदब मेरे मन में गहरा पड़ गया, और साथ ही उनका जिनके हाथ में कलम होता है। देखती भी थी गुरबानी के प्रकांड विद्वान् भाई काहनसिंह जी पिताजी के मित्र थे। वह जब कभी आते, घर की दहलीज़ भी अदब से भर जाती। पिताजी के गुरु, संस्कृत के विद्वान्, दयालजी का चित्र सदा पिताजी के सिरहाने की ओर लगा रहता था। उस ओर पांव करने की मनाही थी। सो, बड़ी हुई तो अपने समय के लेखकों के लिए भी मेरे पास अदब ही था। परंतु अपने समकालीन लेखकों से जितने उदास अनुभव मुझे हुए हैं, हैरान हूं कि अक्षरों और क़लमों के अदब का जादुई पेड़ जड़ से क्यों सूख नहीं गया?

लेकिन सोचती हूं, क्या मेरे समकालीन केवल वही हैं जिनसे वास्ता पड़ा? दूरी और काल की सीमा से परे भी कोई हैं, कितने ही काज़ान ज़ाकिस, जिन्होंने मेरे इस अक्षरों और क़लमों के अदब वाले पेड़ को सींचा है। फिर यह पेड़ भी अगर हरा रह गया है, तो हैरान क्यों हूं?

चारपाई पर बैठकर धीरे-धीरे करना है, मैं याद से इसकी कुछ पंक्तियां छोड़ दिया करूंगी, क़िला पूरी तरह बंद नहीं होगा, और वह उस खुली जगह से होकर आ जायेगा···

पर पिताजी ने इस नियम का रूप बदल दिया। इसकी जगह सब अपनी-अपनी चारपाई पर बैठकर अपना-अपना पाठ करें। उन्होंने यह नियम बना दिया कि मैं अपनी चारपाई पर बैठकर ऊंचे स्वर से पाठ करूंगी, और सब अपनी-अपनी चारपाई पर बैठे उसे सुनेंगे। यह शायद इसलिए कि दूर रिश्ते में एक लड़का और एक छोटी बच्ची पिताजी के पास ही रहते और पढ़ते थे, और उस छोटी बच्ची को यह पाठ याद नहीं होता था।

सो पाठ की कोई भी पंक्ति छोड़ी नहीं जा सकती थी। एक-दो बार छोड़ने की कोशिश की, पर पिताजी ने भूल की शोध करवाकर वे पंक्तियां भी पढ़वा दीं। फिर बहुत सोचकर यह युक्ति निकाली कि 'कीर्तन सोहिले' का पाठ करने से पहले मैं राजन का ध्यान करके उसे अपने पास बुला लिया करूं ताकि वह क़िले की दीवारों के निर्माण होने से पहले ही क़िले के अंदर आ जाया करे।

तब दस बरस की थी, आज चालीस बरस बाद उस बात को सोचती हूं तो लगता है जिस भी अस्तित्व के लिए यह लगन थी वह वृथा नहीं गयी। मेरे गिर्द सुरक्षात्मक क़िले बने भी हैं, और टूटे भी, पर उसका अस्तित्व किसी न किसी रूप में सदा मेरे साथ रहा है—कभी मनुष्य के रूप में, कभी कलम की सूरत में, और कभी ईश्वर की ज़ात की तरह एक से अनेक होते हुए—किसी किताब के पृष्ठों में से भी उभरता है और किसी कैनवस में से भी निकलकर बाहर उतर आता है। और धुएं की लकीर में से जिन्न के प्रकट होने की तरह, यह कभी किसी गीत के स्वरों से भी निकल आता है, किसी फूल की खिलती हुई पंखुड़ी में से भी, और समुद्र के पानियों में हिलते हुए चांद के साये से भी। और घोर एकाकीपन के समय यह नदियों को चीरकर भी मिला है—मेरे शरीर की नाड़ियों में बहते हुए लहू की नदियों को चीरकर, और इसके अस्तित्व के साथ उपरामता का जर्द रंग भी सुर्ख़ हो जाता है।

यह—अब हाड़-मांस की दिखाई देने वाली काया से लेकर, रंगों और सुगंधों में से गुजरता, विचारों और सपनों की उस सीमा तक व्यापक हो गया है जहां किसी राह चलते की छोटी-सी अच्छाई भी 'उसका' अस्तित्व मालूम होती है, और आंखों में पानी भर आता है। मेरे लिए निराकार कुछ नहीं है। हर वस्तु का अस्तित्व हाड़-मांस की तरह है, जिसे हाथ से छू सकती हूं, जिसका अहसास मेरे शरीर में से गुज़र सकता है।

छुटपन में जब हरगोविन्दजी का या गुरु गोविन्दसिंह का सपना आता था

तो मैं उनके घोड़े को, या बाज़ को, या गले में पड़ी हुई तलवार को सदा हाथ से छूकर देखती थी, दूर से प्रणाम करके नहीं। उसी तरह फूलों और पत्तियों की टहनियां मैं बांहों में भर लेती थी। अब भी—किसी से गले मिलने की तरह। सारा शरीर सिहर उठता है, और उनकी कसाहट से मेरा सांस तेज़ हो जाता है।

बहुत बरसों की बात है—एक बार कोई पास बैठा हुआ था। उसकी जेब में जो रूमाल था वह मैला था। उसे रूमाल की ज़रूरत पड़ी, तो नया रूमाल देकर उसका मैला रूमाल ले लिया, पास रख लिया। वह बहुत बरस तक मेरे पास रहा। जब कभी उस रूमाल पर हाथ पड़ जाता था, माथे की नसें कस जाती थीं।

कुछ बीज न जाने कैसे होते हैं कि एक बार लहू-मांस में उग जाएं, तो फिर चाहे कैसी आंधियां आएं, कैसा ही सूखा पड़ जाए, उनके पत्ते झड़ जाएं, टहने टूट जाएं, पर वे जड़ों से नहीं उखड़ते।

एक 'किसी चेहरे का तसव्वुर', और दूसरा 'अक्षरों का अदब'—ऐसे ही बीज थे जो बाल अवस्था में मेरे अन्दर उग गए। फिर विश्वास टूटे, और ऐसे टूटे कि, सोचती हूं, इन दोनों पेड़ों को जड़ों से उखड़ जाना चाहिए था। कभी लगता भी है कि इनका नाम-निशान तक नहीं रहा, पर मन की सूखी मिट्टी में से फिर इनकी कोंपलें निकल आती हैं, टहनियां बन जाती हैं, उन पर बौर आ जाता है और मेरे सांसों में से उनकी सुगंध आने लगती है···

इन जादुई पेड़ों का एक बीज मैंने अपने हाथों से बोया था, पर दूसरा मेरे पिता ने। किसी किताब का पृष्ठ धरती पर पड़ा हो तो वह उसे अदब से उठा लेते थे। अगर भूल से मेरा पैर पृष्ठ पर आ जाता तो वह नाराज़ होते थे। सो अक्षरों का अदब मेरे मन में गहरा पड़ गया, और साथ ही उनका जिनके हाथ में कलम होता है। देखती भी थी गुरबानी के प्रकांड विद्वान् भाई काहनसिंह जी पिताजी के मित्र थे। वह जब कभी आते, घर की दहलीज भी अदब से भर जाती। पिताजी के गुरु, संस्कृत के विद्वान्, दयालजी का चित्र सदा पिताजी के सिरहाने की ओर लगा रहता था। उस ओर पांव करने की मनाही थी। सो, बड़ी हुई तो अपने समय के लेखकों के लिए भी मेरे पास अदब ही था। परंतु अपने समकालीन लेखकों से जितने उदास अनुभव मुझे हुए हैं, हैरान हूं कि अक्षरों और क़लमों के अदब का जादुई पेड़ जड़ से क्यों सूख नहीं गया?

लेकिन सोचती हूं, क्या मेरे समकालीन केवल वही हैं जिनसे वास्ता पड़ा? दूरी और काल की सीमा से परे भी कोई हैं, कितने ही काज़ान ज़ाकिस, जिन्होंने मेरे इस अक्षरों और क़लमों के अदब वाले पेड़ को सींचा है। फिर यह पेड़ भी अगर हरा रह गया है, तो हैरान क्यों हूं?

३१ जुलाई, १९३०

कोई ग्यारह बरस की थी, जब अचानक एक दिन मां बीमार हो गयीं। बीमारी कोई मुश्किल से एक सप्ताह रही होगी जब मैंने देखा कि मां की चारपाई के इर्द-गिर्द बैठे हुए सभी के मुंह घबराए हुए थे।

'मेरी बिन्ना कहां है?' कहते हैं, एक बार मेरी मां ने पूछा था और जब मेरी मां की सहेली प्रीतम कौर मेरा हाथ पकड़कर मुझे मां के पास ले गयी तो मां को होश नहीं था।

'तू ईश्वर का नाम ले री! कौन जाने उसके मन में दया आ जाए। बच्चों का कहा वह नहीं टालता...' मेरी मां की सहेली, मेरी मौसी, ने मुझसे कहा।

मां की चारपाई के पास खड़े हुए मेरे पैर पत्थर के हो गए। मुझे कई वर्षों से ईश्वर से ध्यान जोड़ने की आदत थी, और अब जब एक सवाल भी सामने था, ध्यान जोड़ना कठिन नहीं था। मैंने न जाने कितनी देर अपना ध्यान जोड़े रखा और ईश्वर से कहा—'मेरी मां को मत मारना।'

मां की चारपाई से अब मां की पीड़ा से कराहती हुई आवाज़ नहीं आ रही थी, पर इर्द-गिर्द बैठे हुए लोगों में एक खलबली-सी पड़ गयी थी। मुझे लगता रहा—'बेकार ही सब घबरा रहे हैं, अब मां को पीड़ा नहीं हो रही है। मैंने ईश्वर से अपनी बात कह दी है—वह बच्चों का कहा नहीं टालता।'

और फिर मां की चीखों की आवाज़ नहीं आयी, पर सारे घर की चीखें निकल गयीं। मेरी मां मर गयी थी। उस दिन मेरे मन में रोष उबल पड़ा—'ईश्वर किसी की नहीं सुनता, बच्चों की भी नहीं।'

यह वह दिन था जिसके बाद मैंने अपना वर्षों का नियम छोड़ दिया। पिताजी की आज्ञा बड़ी कठोर होती थी, पर मेरी ज़िद ने उनकी कठोरता से टक्कर ले ली :

'ईश्वर कोई नहीं होता।'

'ऐसे नहीं कहते।'

'क्यों?'

'वह नाराज़ हो जाता है।'

'तो हो जाए! मैं जानती हूं ईश्वर कोई नहीं है।'

'तू कैसे जानती है?'

'अगर वह होता तो मेरी बात न सुनता ?'

'तूने उससे क्या कहा था ?'

'मैंने उससे कहा था, मेरी मां को मत मारना।'

'तूने उसे कभी देखा है ? वह दिखाई थोड़े ही देता है।'

'पर उसे सुनायी भी नहीं देता ?'

पूजा-पाठ के लिए पिताजी की आज्ञा अपनी जगह पर अड़ी हुई थी, और मेरी ज़िद अपनी जगह। कभी उनका गुस्सा ज्यादा ही उबल पड़ता, और वह मुझे पालथी लगवाकर बिठा देते—'दस मिनट आंखें मीचकर ईश्वर का चिंतन कर !'

बाहर जब शारीरिक तौर पर मेरी बचकानी उम्र उनके पितृ-अधिकार से टक्कर न ले सकती तब मैं आलथी-पालथी मारकर बैठ जाती, आंखें भी मींच लेती, पर अपनी हार को अपने मन का रोष बना लेती—'अब आंखें मींचकर अगर मैं ईश्वर का चिन्तन न करूं तो पिताजी मेरा क्या कर लेंगे ? जिस ईश्वर ने मेरी वह बात नहीं सुनी, अब मैं उससे कोई बात नहीं करूंगी। उसके रूप का भी चिन्तन नहीं करूंगी। अब मैं आंखें मींचकर अपने राजन का चिन्तन करूंगी। वह मेरे साथ सपने में खेलता है, मेरे गीत सुनता है, वह कागज़ लेकर मेरी तसवीर बनाता है—बस उसी का ध्यान करूंगी, उसी का।'

ये वे दिन थे जिनके बाद मैंने कई दिन नहीं, कई महीने नहीं, कई बरस दो सपनों में गुज़ार दिए। रोज़ रात को मेरे पास आना इन सपनों का नियम बन गया। गर्मी जाए, जाड़ा जाए, इन्होंने कभी नाग़ा नहीं किया।

एक सपना था कि एक बहुत बड़ा क़िला है और लोग मुझे उसमें बंद कर देते हैं। बाहर पहरा होता है। भीतर कोई दरवाज़ा नहीं मिलता। मैं क़िले की दीवारों को उंगलियों से टटोलती रहती हूं, पर पत्थर की दीवारों का कोई भी हिस्सा नहीं पिघलता।

सारा क़िला टटोल-टटोलकर जब कोई दरवाज़ा नहीं मिलता तो मैं सारा ज़ोर लगाकर उड़ने की कोशिश करने लगती हूं।

मेरी बांहों का इतना ज़ोर लगता है, इतना ज़ोर लगता है कि मेरा सांस चढ़ जाता है।

फिर मैं देखती हूं मेरे पैर धरती से ऊपर उठने लगते हैं। मैं ऊपर होती जाती हूं, और ऊपर, और फिर क़िले की दीवार से भी ऊपर हो जाती हूं।

सामने आसमान आ जाता है। ऊपर से मैं नीचे निगाह डालती हूं। क़िले का पहरा देने वाले घबराए हुए हैं—गुस्से में बांहें हिलाते हुए, पर मुझ तक किसी का हाथ नहीं पहुंच सकता।

और दूसरा सपना था कि लोगों की एक भीड़ मेरे पीछे है। मैं पैरों से पूरी ताक़त लगाकर दौड़ती हूं। लोग मेरे पीछे दौड़ते हैं। फ़ासला कम होता जाता है और मेरी घबराहट बढ़ती जाती है। मैं और ज़ोर से दौड़ती हूं, और ज़ोर से, और सामने दरिया आ जाता है।

मेरे पीछे आने वाली लोगों की भीड़ में खुशी बिखर जाती है—'अब आगे कहां जाएगी ? आगे कोई रास्ता नहीं है, आगे दरिया बहता है…'

और मैं दरिया पर चलने लगती हूं। पानी बहता रहता है पर जैसे उसमें धरती-जैसा सहारा आ जाता है। धरती तो पैरों को सख्त लगती है। यह पानी नरम लगता है और मैं चलती जाती हूं।

सारी भीड़ किनारे पर रुक जाती है। कोई पानी में पैर नहीं डाल सकता। अगर कोई डालता है तो डूब जाता है। और किनारे पर खड़े हुए लोग घूरकर देखते हैं, किचकिचियां भरते हैं, पर किसी का हाथ मुझ तक नहीं पहुंच पाता।

मेरा सोलहवां साल

सोलहवां साल आया—एक अजनबी की तरह। पास आकर भी एक दूरी पर खड़ा रहा। मैं कभी चुपचाप उसकी ओर देख लेती, वह कभी मुसकराकर मेरी ओर देख लेता।

घर में पिताजी के सिवाय कोई नहीं था—वह भी लेखक जो सारी रात जागते थे, लिखते थे, और सारे दिन सोते थे। मां जीवित होतीं तो शायद सोलहवां साल और तरह से आता—परिचितों की तरह, सहेलियों-दोस्तों की तरह, सगे-संबंधियों की तरह, पर मां की गैरहाज़िरी के कारण ज़िन्दगी में से बहुत कुछ गैरहाज़िर हो गया था। आस-पास के अच्छे-बुरे प्रभावों से बचाने के लिए पिता को इसमें ही सुरक्षा समझ में आयी थी कि मेरा कोई परिचित न हो, न स्कूल की कोई लड़की, न पड़ोस का कोई लड़का। सोलहवां बरस भी इसी गिनती में शामिल था, और मेरा खयाल है, इसीलिए वह सीधी तरह घर का दरवाज़ा खटखटाकर नहीं आया था, चोरों की तरह आया था।

वह कभी किसी रात मेरे सिरहाने की खुली खिड़की में से होकर चुपचाप मेरे सपनों में आ जाता, या कभी दिन के समय, जब मेरे पिता को सोए हुए देखता तो वह घर की दीवार फांदकर आ जाता, और मेरे कमरे के कोने में लगे हुए छोटे-से शीशे में आकर बैठ जाता।

घर किताबों से भरा हुआ था। बहुत-सी किताबों का वातावरण धार्मिक था, समाधि में लीन ऋषियों की भांति। पर कई ऐतिहासिक पुस्तकों का वातावरण ऐसा भी था जिनमें किसी मेनका या उर्वशी के आगमन से ऋषियों की समाधि भंग हो जाती थी। यह दूसरे प्रकार की पुस्तकें ऐसी थीं जिन्हें पढ़ते समय उनकी किसी पंक्ति में से निकलकर अचानक मेरा सोलहवां बरस मेरे सामने आ खड़ा होता था। लगता था यह सोलहवां बरस भी जैसे किसी अप्सरा का रूप था जो मेरे सीधे-सादे बचपन की समाधि भंग करने के लिए कभी अचानक मेरे सामने आ खड़ा होता था···

कहते हैं ऋषियों की समाधि भंग करने के लिए जो अप्सराएं आती थीं उसमें राजा इन्द्र की साज़िश होती थी। मेरा सोलहवां साल भी अवश्य ही ईश्वर की साज़िश रहा होगा, क्योंकि इसने मेरे बचपन की समाधि तोड़ दी थी। मैं कविताएं लिखने लगी थी। और हर कविता मुझे वर्जित इच्छा की तरह लगती थी। किसी ऋषि की समाधि टूट जाए तो भटकने का शाप उसके पीछे पड़ जाता है—'सोचों' का शाप मेरे पीछे पड़ गया···

पर सोलहवें वर्ष से मेरा स्वाभाविक संबंध नहीं था—चोरी का रिश्ता था। इसलिए वह भी मेरी तरह मेरे पिता के आगे सहम जाता था, और मेरे पास से परे हटकर किसी दरवाज़े के पीछे जाकर खड़ा हो जाता था और उसे छिपाए रखने के लिए मैं एक क्षण जो मन-मर्ज़ी की कविता लिखती थी, दूसरे क्षण फाड़ देती थी और पिता के सामने फिर सीधी-सादी और आज्ञाकारी बच्ची बन जाती थी।

मेरे पिता को मेरे कविता लिखने पर आपत्ति नहीं थी—बल्कि क़ाफ़िये-रदीफ़ की बात मुझे मेरे पिता ने सिखायी थी, केवल उनका आग्रह था कि मैं धार्मिक कविताएं लिखूं। और मैं आज्ञाकारी बच्ची की तरह वही दक़ियानूसी कविताएं लिख देती थी (उम्र के सोलहवें साल में हर विश्वास पारम्परिक होता है, और इसीलिए दक़ियानूसी भी)।

इस तरह सोलहवां वर्ष आया और चला गया। प्रत्यक्ष रूप में कोई घटना नहीं घटी। वास्तव में यह वर्ष आयु की सड़क पर लगा हुआ खतरे का चिह्न होता है—(कि बीते वर्षों की सपाट सड़क खत्म हो गयी है, आगे ऊंची-नीची और भयानक मोड़ों वाली सड़क शुरू होनी है, और अब माता-पिता के कहने से लेकर स्कूल की पुस्तकें कंठ करने, उपदेश को सुनने-मानने, और सामाजिक व्यवस्था को आदर-सहित स्वीकार करने के भोले-भाले विश्वास के सामने हर समय एक प्रश्न-वाक्य आ खड़ा होगा···)। इस वर्ष जाना-पहचाना सब कुछ शरीर के वस्त्रों की तरह तंग हो जाता है, होंठ ज़िन्दगी की प्यास से खुश्क हो जाते हैं, आकाश के तारे जिन्हें सप्त-ऋषियों के आकार में देखकर दूर से प्रणाम

करना होता था, पास जाकर छू लेने को जी करता है··· इर्द-गिर्द और दूर-पास की हवा में इतनी मनाहियां और इतने इनकार होते हैं, और इतना विरोध, कि सांसों में आग सुलग उठती है···

जिस हद तक यह सब औरों के साथ होता है, मेरे साथ उससे तिगुना हुआ। (एक, आस-पास की मध्य श्रेणी का फीका और रस्मी रहन-सहन; दूसरे, मां के न होने के कारण हर समय मनाहियों का सिलसिला, और तीसरे, पिता के धार्मिक अगुआ होने की हैसियत में, मुझ पर भी अत्यन्त संयमी होकर रहने की पाबन्दी) —इसलिए सोलहवें वर्ष से मेरा परिचय उस असफल प्रेम के समान था जिसकी कसक सदा के लिए कहीं पड़ी रह जाती है और शायद इसीलिए वह सोलहवां वर्ष भी अब मेरी ज़िन्दगी के हर वर्ष में कहीं न कहीं शामिल है···

इसके रोष का पूरा रूप मैंने उसके बाद कई बार देखा। १९४७ में देश के विभाजन के समय भी देखा। सामाजिक राजनीति और धार्मिक मूल्य कांच के बरतनों की भांति टूट गए थे, और उनकी किरचें लोगों के पैरों में बिछी हुई थीं, ये किरचें मेरे पैरों में भी चुभी थीं और मेरे माथे में भी। ज़िन्दगी का मुंह देखने की भटकन में मैंने उसी तपिश के साथ कविताएं लिखीं जिस तपिश के साथ कोई सोलहवें वर्ष में अपने प्रिय का मुख देखने के लिए लिखता है। और इसी तरह फिर पड़ोसी देशों के आक्रमण के समय, वियतनाम की लम्बी यातना के समय, चेकोस्लोवाकिया की विवशता के समय···

मेरा खयाल है जब तक आंखों में कोई हसीन तसव्वुर क़ायम रहता है, और उस तसव्वुर की राह में जो कुछ भी ग़लत है उसके लिए रोष क़ायम रहता है, तब तक मनुष्य का सोलहवां वर्ष भी क़ायम रहता है (खुदा की जाति की तरह हर सूरत में)।

हसीन तसव्वुर, एक महबूब के मुंह का हो, या धरती के मुंह का, इससे फ़र्क़ नहीं पड़ता। यह मन के सोलहवें वर्ष के साथ मन के तसव्वुर का रिश्ता है और मेरा यह रिश्ता अभी तक क़ायम है···

खुदा की जिस साज़िश ने यह सोलहवां वर्ष किसी अप्सरा की तरह भेजकर मेरे बचपन की समाधि भंग की थी, उस साज़िश की मैं ऋणी हूं, क्योंकि उस साज़िश का संबंध केवल एक वर्ष से नहीं था, मेरी सारी उम्र से है।

मेरा हर चिन्तन अब भी कुछ-कुछ समय बाद मेरे सीधे-सादे दिनों की समाधि भंग करता रहता है (सब्र-सन्तोष से ज़िन्दगी के ग़लत मूल्यों के साथ की हुई सुलह उस समाधि की तरह होती है जिसमें आयु अकारथ चली जाती है) और मैं खुश हूं, मैंने समाधि के चैन का वरदान नहीं पाया, भटकन की बेचैनी का शाप पाया है···और मेरा सोलहवां वर्ष आज भी मेरे हर वर्ष में शामिल है···सिर्फ़ अब इसका मुंह अजनबी नहीं रहा, सबसे अधिक प

अब इसे चोरी से दीवारें फांदकर आने की जरूरत नहीं रही, यह हर विरोध को खुले वन्दों पछाड़कर आता है—केवल वाहरी विरोध को नहीं, मेरी आयु के पचासवें वर्ष के विरोध को भी पछाड़कर—और उसके सब लक्षण अब भी उसी प्रकार हैं—जब भी इर्द-गिर्द का सब-कुछ, तन के कपड़ों की भांति रूह को तंग लगता है, होंठ जिन्दगी की प्यास से खुश्क हो जाते हैं, आकाश के तारों को हाथ से छूने को जी करता है, और कोई अन्याय, चाहे दुनिया में किसी से, और कहीं भी हो, उसके विरुद्ध मेरी सांसों में आग सुलग उठती है···

एक साया

एक सांवला-सा साया था जो बचपन से ही मेरे साथ चलने लगा। फिर धीरे-धीरे जाना कि इसमें वहुत कुछ मिला हुआ है—अपने महबूब का चेहरा भी, और अपना भी जिसकी मुझे अभी केवल तमन्ना थी, मुझसे कहीं अधिक सयाना, गंभीर और तगड़ा—और इसके अलावा अपने देश और हर देश के मनुष्य का स्वतन्त्र चेहरा भी···

जो लिखती रही—इस हड्डियों के ढांचे को रक्त और मांस देने की चाह में लिखती रही, इसी के सांवले रंग में रोशनी का रंग भरने की तमन्ना में···

यह एक प्रकार से खुदा को धरती पर उतार लेने की तमन्ना थी। शायद सीलिए यह साया एक चेहरे तक सीमित नहीं रहा, जहां भी कहीं सुन्दरता का कण है, वहां तक व्यापक हो गया।

यह वही 'मैं' है जिसके लिए लिखा था—वहुत समकालीन हैं, केवल यह 'मैं' मेरा समकालीन नहीं···

यह एक दर्द था, पंछी के गीत की तरह। एक पल हवा में, दूसरे पल कहीं भी नहीं। किसी कान ने सुन लिया, ठीक है, नहीं सुना, तब भी ठीक है। किसी के कान पर न कोई हक था, न दावा।

वहुत वच्ची थी, जब हैरान हुई कि मेरे चारों ओर कितनी ही आवाजें हैं, जो गालियां वन गयी हैं। कितने ही नामों के झंडे थे, और थड़े थे, जिनमें वे झंडे गड़े हुए थे, उन्होंने समझा कि मुझे भी वहां अपने नाम का कोई झंडा गाड़ना है। कहना चाहा—दोस्तो, तुम्हारे थड़े और तुम्हारे झंडे तुम्हें मुवारक, मुझे कुछ नहीं चाहिए, ग़लतफ़हमी में न पड़ो।

देखा—कुछ कहना-सुनना संभव नहीं है। समझा—कि वक़्ती वात है, कभी तो संभव होगा, पर अपनी भाषा के साहित्यकारों के हाथों यह कभी संभव नहीं

करना होता था, पास जाकर छू लेने को जी करता है···इर्द-गिर्द और दूर-पास की हवा में इतनी मनाहियां और इतने इनकार होते हैं, और इतना विरोध, कि सांसों में आग सुलग उठती है···

जिस हद तक यह सब औरों के साथ होता है, मेरे साथ उससे तिगुना हुआ। (एक, आस-पास की मध्य श्रेणी का फीका और रस्मी रहन-सहन; दूसरे, मां के न होने के कारण हर समय मनाहियों का सिलसिला, और तीसरे, पिता के धार्मिक अगुआ होने की हैसियत में, मुझ पर भी अत्यन्त संयमी होकर रहने की पाबन्दी) —इसलिए सोलहवें वर्ष से मेरा परिचय उस असफल प्रेम के समान था जिसकी कसक सदा के लिए कहीं पड़ी रह जाती है और शायद इसीलिए वह सोलहवां वर्ष भी अब मेरी ज़िन्दगी के हर वर्ष में कहीं न कहीं शामिल है···

इसके रोष का पूरा रूप मैंने उसके बाद कई बार देखा। १९४७ में देश के विभाजन के समय भी देखा। सामाजिक राजनीति और धार्मिक मूल्य कांच के बरतनों की भांति टूट गए थे, और उनकी किरचें लोगों के पैरों में बिछी हुई थीं। ये किरचें मेरे पैरों में भी चुभी थीं और मेरे माथे में भी। ज़िन्दगी का मुंह देखने की भटकन में मैंने उसी तपिश के साथ कविताएं लिखीं जिस तपिश के साथ कोई सोलहवें वर्ष में अपने प्रिय का मुख देखने के लिए लिखता है। और इसी तरह फिर पड़ोसी देशों के आक्रमण के समय, वियतनाम की लम्बी यातना के समय, चेकोस्लोवाकिया की विवशता के समय···

मेरा ख़याल है जब तक आंखों में कोई हसीन तसव्वुर क़ायम रहता है, और उस तसव्वुर की राह में जो कुछ भी ग़लत है उसके लिए रोष क़ायम रहता है, तब तक मनुष्य का सोलहवां वर्ष भी क़ायम रहता है (खुदा की जाति की तरह हर सूरत में)।

हसीन तसव्वुर, एक महबूब के मुंह का हो, या धरती के मुंह का, इससे फ़र्क़ नहीं पड़ता। यह मन के सोलहवें वर्ष के साथ मन के तसव्वुर का रिश्ता है। और मेरा यह रिश्ता अभी तक क़ायम है···

खुदा की जिस साज़िश ने यह सोलहवां वर्ष किसी अप्सरा की तरह भेजकर मेरे बचपन की समाधि भंग की थी, उस साज़िश की मैं ऋणी हूं, क्योंकि उस साज़िश का संबंध केवल एक वर्ष से नहीं था, मेरी सारी उम्र से है।

मेरा हर चिन्तन अब भी कुछ-कुछ समय बाद मेरे सीधे-सादे दिनों की समाधि भंग करता रहता है(सब्र-सन्तोष से ज़िन्दगी के ग़लत मूल्यों के साथ की हुई सुलह उस समाधि की तरह होती है जिसमें आयु अकारथ चली जाती है) और मैं खुश हूं, मैंने समाधि के चैन का वरदान नहीं पाया, भटकन की बेचैनी का शाप पाया है···और मेरा सोलहवां वर्ष आज भी मेरे हर वर्ष में शामिल है···सिर्फ़ अब इसका मुंह अजनबी नहीं रहा, सबसे अधिक पहचान वाला हो गया है। और

अब इसे चोरी से दीवारें फांदकर आने की जरूरत नहीं रही, यह हर विरोध को खुले बन्दों पछाड़कर आता है—केवल बाहरी विरोध को नहीं, मेरी आयु के पचासवें वर्ष के विरोध को भी पछाड़कर—और उसके सब लक्षण अब भी उसी प्रकार हैं—जब भी इर्द-गिर्द का सब-कुछ, तन के कपड़ों की भांति रूह को तंग लगता है, होंठ जिन्दगी की प्यास से खुश्क हो जाते हैं, आकाश के तारों को हाथ से छूने को जी करता है, और कोई अन्याय, चाहे दुनिया में किसी से, और कहीं भी हो, उसके विरुद्ध मेरी सांसों में आग सुलग उठती है···

एक साया

एक सांवला-सा साया था जो बचपन से ही मेरे साथ चलने लगा। फिर धीरे-धीरे जाना कि इसमें बहुत कुछ मिला हुआ है—अपने महबूब का चेहरा भी, और अपना भी जिसकी मुझे अभी केवल तमन्ना थी, मुझसे कहीं अधिक सयाना, गंभीर और तगड़ा—और इसके अलावा अपने देश और हर देश के मनुष्य का स्वतन्त्र चेहरा भी···

जो लिखती रही—इस हड्डियों के ढांचे को रक्त और मांस देने की चाह में लिखती रही, इसी के सांवले रंग में रोशनी का रंग भरने की तमन्ना में···

यह एक प्रकार से खुदा को धरती पर उतार लेने की तमन्ना थी। शायद इसीलिए यह साया एक चेहरे तक सीमित नहीं रहा, जहां भी कहीं सुन्दरता का कण है, वहां तक व्यापक हो गया।

यह वही 'मैं' है जिसके लिए लिखा था—बहुत समकालीन हैं, केवल यह 'मैं' मेरा समकालीन नहीं···

यह एक दर्द था, पंछी के गीत की तरह। एक पल हवा में, दूसरे पल कहीं भी नहीं। किसी कान ने सुन लिया, ठीक है, नहीं सुना, तब भी ठीक है। किसी के कान पर न कोई हक था, न दावा।

बहुत बच्ची थी, जब हैरान हुई कि मेरे चारों ओर कितनी ही आवाज़ें हैं, जो गालियां बन गयी हैं। कितने ही नामों के झंडे थे, और थड़े थे, जिनमें वे झंडे गड़े हुए थे, उन्होंने समझा कि मुझे भी वहां अपने नाम का कोई झंडा गाड़ना है। कहना चाहा—दोस्तो, तुम्हारे थड़े और तुम्हारे झंडे तुम्हें मुबारक, मुझे कुछ नहीं चाहिए, ग़लतफ़हमी में न पड़ो।

देखा—कुछ कहना-सुनना संभव नहीं है। समझा—कि वक़्ती बात है, कभी तो संभव होगा, पर अपनी भाषा के साहित्यकारों के हाथों यह कभी संभव नहीं

हुआ—न आज से तीस बरस पहले, न अब।

यह मेरा पहला दु:खान्त था, पर नहीं जानती थी कि उम्र जितना लम्बा होगा।

कुछ बुज़ुर्ग चेहरे थे—गुरबख्शसिंह जी, धनीराम चात्रिक, प्रिंसिपल तेजासिंह—जो प्यार से, शायद रहम से, मुसकराए थे। पर इनमें से दो चेहरे बहुत जल्दी बिछड़ गए—और गुरबख्शसिंह जी, जो कुछ साहित्य में घटता था, उससे बहुत जल्दी विरक्त हो गए, शायद निर्लिप्त।

मन की तहों में सबसे पहला दर्द जिसके चेहरे की रोशनी में देखा वह उस मज़हब का था जिसके लोगों के लिए घर के बरतन भी अलग कर दिए जाते थे।

यही वह चेहरा था जो मेरे अन्दर के इन्सान को इतना विशाल कर गया कि हिन्दुस्तान के बटवारे के समय बटवारे के हाथों तबाह होकर भी दोनों मज़हबों के ज़ुल्म, बिना किसी रियाअत या द्वैत के लिख सकी। यह चेहरा न देखा होता तो 'पिंजर' नॉवेल की तक़दीर न जाने क्या होती।

बीस-इक्कीस बरस की थी जब कल्पना किया हुआ चेहरा इस धरती पर देखा था (इस मिलन को बहुत वर्ष बाद मैंने विस्तारपूर्वक 'आख़िरी ख़त' में लिखा था)। यह 'शी' की भांति रोज़, आग में नहाने वाली हालत थी—यहां तक कि १६५७ में जब अकादमी का पुरस्कार मिला, फ़ोन पर खबर सुनते हुए सिर से पैर तक मैं ताप में तप गई—ख़ुदाया! यह 'सुनेहड़े'[1] मैंने किसी इनाम के लिए तो नहीं लिखे थे; जिसके लिए लिखे थे, उसने पढ़े नहीं, अब सारी दुनिया भी पढ़ ले तो मुझे क्या···

उस दिन शाम पड़े एक प्रेस-रिपोर्टर आया, फ़ोटोग्राफर साथ था। वह जब तसवीर लेने लगा, उसने कागज़-क़लम से वह समय पकड़ना चाहा जो किसी कविता के लिखने का होता है। मैंने सामने मेज़ पर कागज़ रखा, और हाथ में क़लम लेकर कागज पर कोई कविता लिखने की जगह—एक अचेत-सी दशा में उसका नाम लिखने लगी जिसके लिए वह सुनेहड़े लिखे थे—साहिर, साहिर, साहिर, साहिर···सारा कागज़ भर गया।

प्रेस के लोग चले गए तो अकेले बैठे हुए मुझे चेतना-सी आयी—सवेरे समाचारपत्र में चित्र होगा तो मेज़ के कागज़ पर यह साहिर-साहिर की आवृत्ति होगी···ओ ख़ुदाया!

मजनूं के 'लैला-लैला' पुकारने वाली हालत मैंने उस दिन अपने तन पर झेली।

---

१. 'सुनेहड़े' (संदेसे) काव्य-पुस्तक का शीर्षक।

यह बात और है कि कैमरे का फ़ोकस मेरे हाथ पर था, कागज़ पर नहीं, इसलिए दूसरे दिन के समाचारपत्र में कागज़ पर कुछ भी नहीं पढ़ा जा सकता था। (कुछ भी नहीं पढ़ा जा सकता था, इस बात की तसल्ली होने के बाद एक पीड़ा भी इसमें सम्मिलित हो गयी—'कागज़ खाली दिखाई देता है, पर ईश्वर जानता है वह खाली नहीं था')।

साहिर को मैंने थोड़ा-सा 'अशू' उपन्यास में चित्रित किया। फिर 'एक थी अनीता' में और फिर 'दिल्ली की गलियां' में सागर के रूप में।

कविताएं कई लिखी थीं, 'सुनेहड़े' सबसे लम्बी कविता, 'चैत्र' शीर्षक की सब कविताएं, और एक अन्तिम कविता 'आग की बात' लिखकर लगा कि अब चौदह बरस का बनवास भुगतकर स्वतन्त्र हो गई हूं।

पर बीते हुए बरस—शरीर पर पहने हुए कपड़ों की तरह नहीं होते, ये शरीर के तिल बन जाते हैं। मुंह से चाहे कुछ नहीं कहते, शरीर पर चुपचाप पड़े रहते हैं। बहुत वर्षों बाद—बल्गारिया के दक्षिण में वार्ना के एक होटल में ठहरी हुई थी, जहां एक ओर समुद्र था, दूसरी ओर जंगल, और तीसरी ओर पहाड़। वहां एक रात ऐसा लगा जैसे समुद्र की ओर से एक नाव आयी, और उसमें से कोई उतरकर खिड़की की ओर से मेरे होटल के कमरे में आ गया।

चेतनता और अचेतनता परस्पर मिल-सी गईं। उस रात कविता लिखी थी—'तेरी यादें बहुत देर से जलावतन थीं···'

मेरे अकेलेपन का अभिशाप इमरोज़ ने तोड़ा है। पर उससे मिलने से पहले एक और प्यारी घटना मेरे साथ घटी थी—एक बहुत ही पाक-दिल इंसान की दोस्ती मुझे मिली थी।

सज्जाद हैदर से परिचय तब हुआ था जब अभी देश का विभाजन नहीं हुआ था। अपने समकालीनों में किसी एक से भी ऐसी मुलाक़ात नहीं हुई जो उलझनों और ग़लतफ़हमियों से रहित होकर हुई हो। दोनों हाथों से तल्खियां बांटने वाली सब मुलाक़ातों में केवल सज्जाद की ऐसी मुलाक़ात थी, जो पहली थी, और जिसके साथ दोस्ती लफ़्ज आंखों के आगे झिलमिला जाता था···

लाहौर में थी, तो अकसर मुलाक़ात होती थी। किसी मुलाक़ात के होंठों पर कोई शोख हरफ़ कभी नहीं आया। वह मिलने आता था, तो एक अदब उसके साथ ही सीढ़ियों पर चढ़ता था। फिर बहुत जल्दी ही फ़िसाद शुरू हो गए, सारे-सारे दिन कर्फ्यू लगा रहता, पर कर्फ्यू खुलता तो वह घड़ी-पल के लिए जरूर आता। उन्हीं दिनों २३ अप्रैल आयी—यह मेरी बच्ची का जन्मदिन था। शहर के अग्नि और हत्याकांडों के वातावरण में जन्मदिन मनाने का होश नहीं था। शाम को दरवाज़े पर खटका हुआ—सज्जाद मेरी बच्ची के पहले जन्मदिन का

केक बनवाकर लाया था।

देश का विभाजन हो गया। मैं देहरादून में थी। सज्जाद के खत बराबर आते थे। उन्हीं दिनों मेरे लड़का हुआ था और लाहौर में सज्जाद के घर भी बेटा। मैंने अपने लड़के का नाम नवराज चुना, और सज्जाद ने मेरे बच्चे के नाम पर अपने बच्चे का नाम नवी रखा। हमने तसवीरों के ज़रिए बच्चों को देखा।

फिर नवराज को बुखार आने लगा। कई दिन हो गए तो मैं घबरा गयी। सज्जाद के खत का जवाब दिया तो बुखार के बारे में लिख गयी। वापसी डाक जो खत आया वह मेरे ज़हन में अब तक उतरा हुआ है। लिखा था—'मैं सारी रात खुदा के आगे दुआ करता रहा कि तुम्हारा बच्चा राज़ी हो जाए। अरबी कहावत है कि जब दुश्मन दुआ करता है तो वह जरूर क़बूल होती है। इस वक़्त मैं दुनिया की नज़र में तुम्हारा दुश्मन हूं—वैसे खुदा न करे मैं कभी भी तुम्हारा या तुम्हारे बच्चे का दुश्मन बनूं।'

'वारिस शाह से' कविता से पहले देश के बटवारे के बारे में एक और कविता लिखी थी—'पड़ोसी सौन्दर्य' और लिखते ही सज्जाद को भेज दी थी। वह कविता पंजाबी में मेरे पास से खो गई, इसलिए कभी मेरी भाषा में नहीं छपी, पर सज्जाद ने खत में लिखी हुई कविता का अंग्रेजी में अनुवाद किया और वह 'पाकिस्तान टाइम्स' में छपी थी।

फिर कुछ बरस बाद साहिर की मुलाक़ात पर मैंने एक नज़्म लिखी—'सात बरस'। वह चाहे देश के विभाजन के समय पाकिस्तान नहीं गया था (गया था, पर वहां रहा नहीं) वह हिन्दुस्तान में था, पर सात बरस उससे मुलाक़ात नहीं हो सकी थी। सात बरस के बाद मिला तो एक कविता लिखी, वह छपी तो किसी तरह पाकिस्तान भी पहुंच गई, सज्जाद ने पढ़ी और मुझे खत लिखा—'मैं तुम से मिलने के लिए हिन्दुस्तान आना चाहता हूं, पन्द्रह-बीस दिन की छुट्टी लेकर। तुम बड़ी उदास लगती हो, मैं तुमसे 'उसकी' बातें करूंगा जिसके लिए तुमने 'सात बरस' कविता लिखी है।'

वह आकर अठारह दिन दिल्ली में रहा, रात को मरीना होटल में, और सारे दिन मेरे पास। यह मेरी ज़िन्दगी में पहला समय था जब मैंने जाना कि दुनिया में मेरा भी कोई दोस्त है, हर हाल में दोस्त, और पहली बार जाना कि कविता केवल इश्क़ के तूफ़ान में से ही नहीं निकलती, यह दोस्ती के शान्त पानियों में से भी तैरती हुई आ सकती है। सज्जाद के जाने के समय मैंने कविता लिखी—कहीं पंख बिकते हों तो हमें दो परदेसी ! या हमारे पास रह जाओ...'

एक बार लाहौर में किसी दावत में सज्जाद के एक दोस्त की बीबी ने मिठाइयां देते हुए सज्जाद को बार-बार इमरती पेश की। सज्जाद ने एक-दो बार तो हंसकर टाल दिया, पर फिर संजीदा होकर बोला, 'भाभी ! तुमने उसके

नाम को लेकर आज मुझसे मजाक किया है, फिर कभी न करना। तुम्हें नहीं मालूम कि मेरी मोहब्बत में उसके लिए परस्तिश भी शामिल है।’

उसकी हसीन रूह की एक और घटना याद आ रही है। हम कनॉट प्लेस से घर आए थे, स्कूटर में। स्कूटर वाले ने कुछ ज्यादा ही पैसे मांगे, मैं उससे पैसों के बारे में कुछ कह रही थी कि सज्जाद ने जल्दी से जितने पैसे उसने मांगे थे उतने उसे थमा दिए और उसके जाने के बाद मुझसे कहने लगा, ‘ये जितने भी लोग पाकिस्तान से उजड़कर आए हैं, मुझे लगता है, मैं सबका कुछ न कुछ देनदार हूं…’

काश, इस मनुष्य की रूह से सारी दुनिया की राजनीति, अगर बहुत नहीं तो थोड़ा-सा ही सौन्दर्य मांग लेती…

फिर राजनीतियों के कर्म कि दोनों देशों में चिट्ठी-पत्री बन्द हो गई। जिन वर्षों में मैं बड़ी कठिन स्थिति से गुज़र रही थी, बड़ी अकेली थी, सज्जाद का खत भी मेरे साथ नहीं था (उन दिनों कई महीने तक एक साइकेट्रिस्ट के इलाज में रही थी, उसके कहने पर उसके लिए जो अपनी परेशानियां और सपने लिखे थे, वही फिर ‘काला गुलाब’ किताब में छपे थे)।

फिर इमरोज़ मेरी ज़िन्दगी में आया। दोनों देशों में कुछ समय के लिए चिट्ठी-पत्री भी खुली। फिर मैंने और इमरोज़ ने सज्जाद को खत लिखा। जवाब में उसका जो ख़त इमरोज़ के नाम आया, दुनिया के सब इतिहास उसे सलाम कर सकते हैं। लिखा था—‘मेरे दोस्त! मैंने तुम्हें देखा नहीं है, पर ‘ऐमी’ की आंखों से देख लिया है। और आज दुनिया के इतिहास में जो नहीं हुआ, वह हुआ है। मैं तुम्हारा रक़ीब तुम्हें सलाम भेजता हूं।’

साहिर से भी मेरी और इमरोज़ की मुलाक़ात हुई थी। पहली मुलाक़ात में वह उदास था—हम तीनों ने एक ही मेज़ पर जो कुछ पिया, उसके खाली गिलास हमारे आने के बाद भी कुछ देर तक उसकी मेज़ पर पड़े रहे। उस रात को उसने नज़्म लिखी थी—‘मेरे साथी खाली जाम, तुम आबाद घरों के वासी, हम हैं आवारा [illegible]म’…और यह नज़्म उसने मुझे रात के कोई ग्यारह बजे फ़ोन पर सुनाई, और [illegible]क वह बारी-बारी से तीन गिलासों में ह्विस्की डालकर पी रहा है। पर दूसरी मुलाक़ात के समय इमरोज़ को बुखार चढ़ा हुआ था, उसने उसी[illegible]ा डॉक्टर भेज दिया था उसके इलाज के लिए।

सज्जाद के बारे में जो कुछ मन में था, निस्संकोच कलम की नोक पर आ गया है—अपने पाक रूप में, पर राजनीतिक हालतों का तक़ाज़ा है कि उसका ज़िक्र भी मेरी ज़बान पर नहीं आना चाहिए। पिछले दिनों जब रेडियो और टेलीविज़न के लिए कुछ संस्मरण प्रस्तुत करते हुए मैंने फ़ैज़ नदीम और सज्जाद का कुछ बार नाम लिया तो पाकिस्तान के कुछ अखबारों ने उसके अर्थ तोड़-

मरोड़कर मेरे साथ अपने लोगों को भी क़ुसूरवार समझा था कि मैं और पाकिस्तान के कुछ इंटलैक्चुअल्ज़ हिन्दुस्तान के बटवारे को मन से क़बूल नहीं करते, और पाकिस्तान के अस्तित्व से दुःखी हैं—और हमारी रूहें भटक रही हैं, आदि-आदि··· इसका असर यह हुआ कि सज्जाद ने मुझे लिखा कि मैं रेडियो टेलीविज़न पर किसी तरह भी उसका नाम न लिया करूं। आज अपनी गहरी उदासी में यही कह सकती हूं—दोस्त! तुम्हारा नाम फिर होंठों पर आया है, क्योंकि इसके बिना मेरी यादें अधूरी हैं—पर खुदा करे तुम्हारा किसी तरह का कोई अनिष्ट न हो और तुम्हारी पाक दोस्ती को राजनीति की गर्म हवा न छुए।'

उस समय के अखबारों के जवाब में दिल्ली रेडियो के एक्सटर्नल सर्विसेज़ डिवीज़न ने एक बातचीत करवाई जिसमें मैं थी, जामिया मिलिया के प्रिंसिपल साहब और एक लेक्चरर थे—हमें पाकिस्तान के अस्तित्व से कोई शिकायत नहीं है—शिकायत सिर्फ़ यह है कि हमारे दोनों मुल्कों में दोस्ताना रवैया क्यों नहीं है। यह कोई आधा घंटे की बातचीत थी जिसमें हम तीनों ने भाग लेकर इस नुक्ते को स्पष्ट किया था। मालूम नहीं इसका असर उन अखबारों पर कुछ हुआ या नहीं, पर हम सबने सुर्खरू महसूस किया, पर यह पता नहीं कि इसके बाद सज्जाद ने कुछ सुर्खरू महसूस किया या नहीं। आज फिर यह दोहरा रही हूं, केवल इसलिए कि सज्जाद के मुल्क की राजनीति मुझे खैरख्वाह ही समझे—और कुछ नहीं।

ख़ामोशी का एक दायरा

लौटकर कई मील पीछे देखूं तो देश के विभाजन से पहले के वे दिन सामने आते हैं जब अचानक लाहौर की हवा रोमांचक अफ़वाहों से तल्ख हो गयी थी। ज़िन्दगी में एक ही घटना घटी थी—ब्याह हुआ था, चार साल की उम्र में जो सगाई हुई थी, वह सोलह साल की उम्र होते-होते परवान चढ़ी। बहुत एकसार चल रही ज़िन्दगी की तरह। पर साहित्यिक क्षेत्रों में बहुत ही रोमांचक कहानियां फैल गईं। मालूम हुआ—पंजाबी कविता में जिस कवि का नाम उस समय मान के साथ लिया जाता था उसने मुझ पर कई कविताएं लिखी हैं।

यह उस समय के प्रसिद्ध कवि मोहनसिंह का नाम था। पर जिन समागमों में भी मैंने मोहनसिंहजी को देखा, उनसे साधारण-सी मुलाकात हुई, इससे ज़्यादा कुछ नहीं। शायद उनका स्वभाव ही संजीदा और गंभीर था, इसलिए। मुझे उनसे कोई शिकवा नहीं था, पर इर्द-गिर्द फैलने वाली कहानियों से मैं खुश

नहीं थी। मेरे मन में उनके लिए, अपने से बड़े कवि होने के नाते, एक आदर-भाव था, पर इसके सिवाय कुछ नहीं था। मेरा मन अपने ही भीतर से उठती हुई परछाईं से घिरा हुआ था, इसलिए इर्द-गिर्द की कहानियां केवल यह डर जगाती थीं कि मैं एक ग़लतहफमी का केन्द्र बन रही हूं, पर मोहनसिंहजी का शिष्टाचार ऐसा था कि उनको लेकर कोई शिकवा नहीं कर सकती थी।

फिर एक दिन संध्या समय मोहनसिंहजी मिलने के लिए आए। उनके साथ शायद डॉक्टर दीवानसिंह थे, या कोई और, अब मुझे याद नहीं है, और मालूम हुआ कि अगले दिन उन्होंने एक कविता लिखी 'जायदाद', जिसका भाव था—वह दरवाज़े में खामोश खड़ी थी, एक जायदाद की तरह, एक मालिक की मिल्कियत की तरह···

मेरे लिए—यह मेरे मन के बहुत कठिन दिन थे। कविता की स्पष्टता मुझे बेचैन कर रही थी—कि एक अच्छे-भले आदमी को मेरी ख़ामोशी ग़लतफ़हमी में डाल रही है। पर यह पता नहीं लग रहा था कि ख़ामोशी को मैं किस तरह तोड़ूं। मेरे सामने मोहनसिंहजी ने अपनी ख़ामोशी कभी नहीं तोड़ी। इस ख़ामोशी की एक अपनी आबरू थी, जो क़ायम थी।

और फिर एक दिन मोहनसिंह आए। उनके साथ फ़ारसी के विद्वान कपूरसिंह थे। मेरा संकोच उसी प्रकार था, जिसमें आदर भी सम्मिलित था, पर शायद कुछ रूखापन भी, कि अचानक कपूरसिंहजी ने कहा, "मोहनसिंह! डोन्ट मिसअंडरस्टैंड हर, शी डज़ नॉट लव यू···" तो चिरकाल की जमी हुई ख़ामोशी कुछ पिघल गई। उस दिन मैं साहस करके कह सकी, "मोहनसिंहजी, मैं आपकी दोस्त हूं, आपका आदर करती हूं। आप और क्या चाहते हैं?" बड़े संकोच भरे शब्दों में मैंने केवल इतना कहा, और मेरे विचार में यह काफ़ी था।

मोहनसिंहजी ने कुछ नहीं कहा, केवल बाद में एक छोटी-सी कविता लिखी, जिसमें वही शब्द दोहराए, "मैं आपकी दोस्त हूं, मैं आपकी मित्र हूं, आप और क्या चाहते हैं?" और आगे की पंक्तियों में उदासी से लिखा—"मैं और क्या चाहूंगा···"

कुछ कहानियां-सी फिर भी साहित्य में चलती रहीं—कई मौखिक, कई कुछ लोगों की रचनाओं में संकेतों में, पर मोहनसिंहजी की ओर से ऐसी कोई रचना नहीं आयी जो मुझे दुखा जाती। इसलिए मेरी ओर से भी आज तक उनके आदर में कभी कोई अन्तर नहीं आया।

एक साधारण-सी घटना और भी घटी थी। लाहौर रेडियो के एक अफ़सर थे, जिन्हें शायद साहित्य से कुछ लगाव था। एक बार मेरे एक ब्राडकास्ट के बाद अचानक बोले, "अगर मैंने आज से कुछ बरस पहले आपको देखा होता तो या

तो मैं मुसलमान से सिख हो गया होता, या आप सिख से मुसलमान हो गई होतीं।'

ये शब्द अचानक हवा में उभरे, और अचानक हवा में लीन हो गए। मेरा खयाल है—यह एक क्षण का जज़्बा था जिसका न कोई पहला क्षण इससे जुड़ता था, न कोई आगे का क्षण। फिर उस दिन के बाद उन्होंने कभी कुछ नहीं कहा। पर मैं आज तक नहीं जानती कि उस समय के वातावरण में उनके किसी भी एहसास की बात कैसे बिखर गई, शायद किसी के आगे स्वयं उन्हीं की ज़बानी और न जाने किन शब्दों में, कि बाद में इसका बहुत तोड़ा-मरोड़ा हुआ ज़िक्र भी पढ़ा। कई बार लगता है—कई पंजाबी लेखकों के पास लिखने के लिए कोई गंभीर विषय नहीं होता, वे स्वयं ही कुछ अफ़वाहें फैलाते हैं, स्वयं ही उनको अपनी मर्ज़ी से जिधर चाहे मोड़ते हैं, और फिर उन्हें लिख-लिखकर उनमें लज्जत लेते हैं···

हां, वर्षों बाद, जब मैंने दिल्ली रेडियो में नौकरी की, तो वहां एक पंडित सत्यदेव शर्मा हुआ करते थे, जो लाहौर रेडियो पर भी स्टाफ़ आर्टिस्ट थे, और अब दिल्ली रेडियो पर भी स्टाफ़ आर्टिस्ट थे। उन्होंने हिन्दी में एक कहानी लिखी—'ट्वेन्टी सिक्स मैन एण्ड ए गर्ल'। कहानी का शीर्षक उन्होंने गोर्की की कहानी से ही लिया, पर लिखा उस पुरानी घटना को और कहानी लिखकर मुझे सुनाई। बड़े साफ़ दिल के आदमी थे। उन्होंने बताया, "लाहौर रेडियो पर तुम्हें नहीं मालूम कि कितने लोग तुममें दिलचस्पी लेते थे, ख़ासकर वह आदमी भी। और हम सब स्टाफ़ के लोग महीनों तक एक फ़िक्र के साथ देखते रहे कि आगे क्या होगा, पर कुछ हुआ नहीं।"

शर्माजी शायद यह कहानी कभी भी न लिखते, पर मुझे देखकर उन्हें बरसों पुराना वह इन्तज़ार याद आ गया जिसमें वह कुछ होने की संभावना से चिन्तित रहे थे। कहानी में स्टाफ़ के छोटे-छोटे लोगों के कानों का ज़िक्र था जो कुछ उड़ती हुई सुनने के लिए दीवारों से लगे रहते थे, कुछ सुनाई नहीं देता था तो हैरान बैठ जाते थे कि शायद कुछ हो ही चुका है, पर कानों तक नहीं पहुंच रहा है···

शर्माजी साधारण-से लेखक थे, पर मेरा ख़याल है, यह कहानी उनकी सबसे अच्छी कहानी थी। उन्होंने एक तनाव के वातावरण को पकड़ने की कोशिश की थी, पर अपनी ओर से पंजाबी लेखकों की तरह जबर्दस्ती कोई नतीजा नहीं निकाला था। कहानी में एक ईमानदाराना सादगी थी।



नफ़रत का एक दायरा

बात यह भी छोटी-सी है, पर एक बहुत बड़े नफ़रत के दायरे में घिरी हुई। यह भी मेरी साहित्यिक ज़िन्दगी के आरंभिक दिनों की बात है, लाहौर की। पंजाबी के एक कवि थे जिनसे कभी भेंट नहीं हुई थी। पता लगता रहता था कि वह मेरे विरुद्ध बहुत बोलते हैं। मैंने उन्हें कभी देखा नहीं था इसलिए चकित हुआ करती थी कि उन्हें मेरी ज़ात से कब की और किस बात की दुश्मनी है।

फिर देश के विभाजन से कुछ समय पहले की बात है कि एक बार मुझे कुछ बुख़ार हो गया और एक साप्ताहिक के संपादक हाल पूछने के लिए आए। उनके साथ एक कोई और व्यक्ति भी था जिसे मैंने कभी पहले नहीं देखा था। उन्होंने नाम बताकर परिचय कराया तो मैं चौंक-सी गई। यह वही थे जिन्हें मेरे अस्तित्व से ही नफ़रत थी। हैरान थी कि आज यह मेरा हाल पूछने क्यों आए ?

दो-तीन दिन बाद उसी साप्ताहिक में उनकी एक कविता पढ़ी, जिसके नीचे वही तारीख़ पड़ी हुई थी जिस तारीख़ को वह मिलने के लिए आए थे। और यह कविता अजीबो-ग़रीब प्रेम की कविता थी। ऐसा प्रतीत हुआ—जैसे नफ़रत के लिए कोई कारण नहीं था, उसी तरह इस जज़्बे के लिए भी कोई कारण नहीं था।

और फिर वह कुछेक बार घर आए। हैरान होकर पूछा कि यह अचानक मेहरबानी क्यों ? पर कुछ भी पकड़ में नहीं आया। यह मानती हूं कि उनकी किसी बात में कोई शोख़ी नहीं थी, लेकिन एक कठोरता-सी ज़रूर थी कि सब लोग घटिया हैं, मैं किसी से न मिला करूं, यहां तक कि लाहौर रेडियो के लिए मैं जब साहित्य की समालोचना लिखा करती थी, वह आग्रह किया करते थे कि अमुक का नाम मत लिखना, अमुक की प्रशंसा मत करना, अमुक की पुस्तक का उल्लेख मत करना।

इस साहित्यिक परिचय से जब सांस घुटने लगा तो मैं खीझ उठी। पर यह तल्ख़ी अभी ज़बान पर आयी ही थी कि देश का बटवारा हो गया और मैं उनके परिचय से मुक्त हो गयी। फिर कुछ वर्ष बाद सुना कि उनके विचार में हिन्दुस्तान का बटवारा इसीलिए हुआ क्योंकि मैंने उनकी दोस्ती नहीं चाही। और उनके विचार में हज़ारों मासूम लोगों का क़त्ल भी इसीलिए हुआ। ख़ैर, हिन्दुस्तान के विभाजन का और मासूम लोगों के क़त्ल का यह जो मुझ पर इलज़ाम था इसे कोई मनोविज्ञान का विशेषज्ञ भले ही समझ सके, मैं नहीं समझ सकती। और देखने में आया कि अब वह फिर मेरे विरुद्ध बोलते थे और मेरे विरुद्ध कविताएं लिखते थे। यह नफ़रत मानो एक गोल दायरा थी, जिसका आख़िरी सिरा फिर पहले सिरे से जुड़ना ही था…

रसीदी टिकट :

तो मैं मुसलमान से सिख हो गया होता, या आप सिख से मुसलमान हो गई होतीं।'

ये शब्द अचानक हवा में उभरे, और अचानक हवा में लीन हो गए। मेरा खयाल है—यह एक क्षण का जज़्बा था जिसका न कोई पहला क्षण इससे जुड़ता था, न कोई आगे का क्षण। फिर उस दिन के बाद उन्होंने कभी कुछ नहीं कहा। पर मैं आज तक नहीं जानती कि उस समय के वातावरण में उनके किसी भी एहसास की बात कैसे बिखर गई, शायद किसी के आगे स्वयं उन्हीं की ज़बानी और न जाने किन शब्दों में, कि बाद में इसका बहुत तोड़ा-मरोड़ा हुआ ज़िक्र भी पढ़ा। कई बार लगता है—कई पंजाबी लेखकों के पास लिखने के लिए कोई गंभीर विषय नहीं होता, वे स्वयं ही कुछ अफ़वाहें फैलाते हैं, स्वयं ही उनको अपनी मर्ज़ी से जिधर चाहे मोड़ते हैं, और फिर उन्हें लिख-लिखकर उनमें लज़्ज़त लेते हैं···

हां, वर्षों बाद, जब मैंने दिल्ली रेडियो में नौकरी की, तो वहां एक पंडित सत्यदेव शर्मा हुआ करते थे, जो लाहौर रेडियो पर भी स्टाफ़ आर्टिस्ट थे, और अब दिल्ली रेडियो पर भी स्टाफ़ आर्टिस्ट थे। उन्होंने हिन्दी में एक कहानी लिखी—'ट्वेन्टी सिक्स मैन एण्ड ए गर्ल'। कहानी का शीर्षक उन्होंने गोर्की की कहानी से ही लिया, पर लिखा उस पुरानी घटना को और कहानी लिखकर मुझे सुनाई। बड़े साफ़ दिल के आदमी थे। उन्होंने बताया, "लाहौर रेडियो पर तुम्हें नहीं मालूम कि कितने लोग तुममें दिलचस्पी लेते थे, खासकर वह आदमी भी। और हम सब स्टाफ़ के लोग महीनों तक एक फ़िक्र के साथ देखते रहे कि आगे क्या होगा, पर कुछ हुआ नहीं।"

शर्माजी शायद यह कहानी कभी भी न लिखते, पर मुझे देखकर उन्हें बरसों पुराना वह इन्तज़ार याद आ गया जिसमें वह कुछ होने की संभावना से चिन्तित रहे थे। कहानी में स्टाफ़ के छोटे-छोटे लोगों के कानों का ज़िक्र था जो कुछ उड़ती हुई सुनने के लिए दीवारों से लगे रहते थे, कुछ सुनाई नहीं देता था तो हैरान बैठ जाते थे कि शायद कुछ हो ही चुका है, पर कानों तक नहीं पहुंच रहा है···

शर्माजी साधारण-से लेखक थे, पर मेरा खयाल है, यह कहानी उनकी सबसे अच्छी कहानी थी। उन्होंने एक तनाव के वातावरण को पकड़ने की कोशिश की थी, पर अपनी ओर से पंजाबी लेखकों की तरह ज़बर्दस्ती कोई नतीजा नहीं निकाला था। कहानी में एक ईमानदाराना सादगी थी।

नफ़रत का एक दायरा

बात यह भी छोटी-सी है, पर एक बहुत बड़े नफ़रत के दायरे में घिरी हुई। यह भी मेरी साहित्यिक ज़िन्दगी के आरंभिक दिनों की बात है, लाहौर की। पंजाबी के एक कवि थे जिनसे कभी भेंट नहीं हुई थी। पता लगता रहता था कि वह मेरे विरुद्ध बहुत बोलते हैं। मैंने उन्हें कभी देखा नहीं था इसलिए चकित हुआ करती थी कि उन्हें मेरी ज़ात से कब की और किस बात की दुश्मनी है।

फिर देश के विभाजन से कुछ समय पहले की बात है कि एक बार मुझे कुछ बुख़ार हो गया और एक साप्ताहिक के संपादक हाल पूछने के लिए आए। उनके साथ एक कोई और व्यक्ति भी था जिसे मैंने कभी पहले नहीं देखा था। उन्होंने नाम बताकर परिचय कराया तो मैं चौंक-सी गई। यह वही थे जिन्हें मेरे अस्तित्व से ही नफ़रत थी। हैरान थी कि आज यह मेरा हाल पूछने क्यों आए ?

दो-तीन दिन बाद उसी साप्ताहिक में उनकी एक कविता पढ़ी, जिसके नीचे वही तारीख़ पड़ी हुई थी जिस तारीख को वह मिलने के लिए आए थे। और यह कविता अजीबो-ग़रीब प्रेम की कविता थी। ऐसा प्रतीत हुआ—जैसे नफ़रत के लिए कोई कारण नहीं था, उसी तरह इस जज़्बे के लिए भी कोई कारण नहीं था।

और फिर वह कुछेक बार घर आए। हैरान होकर पूछा कि यह अचानक मेहरबानी क्यों ? पर कुछ भी पकड़ में नहीं आया। यह मानती हूं कि उनकी किसी बात में कोई ग़ोख़ी नहीं थी, लेकिन एक कठोरता-सी ज़रूर थी कि सब लोग घटिया हैं, मैं किसी से न मिला करूं, यहां तक कि लाहौर रेडियो के लिए मैं जब साहित्य की समालोचना लिखा करती थी, वह आग्रह किया करते थे कि अमुक का नाम मत लिखना, अमुक की प्रशंसा मत करना, अमुक की पुस्तक का उल्लेख मत करना।

इस साहित्यिक परिचय से जब सांस घुटने लगा तो मैं खीझ उठी। पर यह तल्ख़ी अभी ज़बान पर आयी ही थी कि देश का बटवारा हो गया और मैं उनके परिचय से मुक्त हो गयी। फिर कुछ वर्ष बाद सुना कि उनके विचार में हिन्दुस्तान का बटवारा इसीलिए हुआ क्योंकि मैंने उनकी दोस्ती नहीं चाही। और उनके विचार में हज़ारों मासूम लोगों का क़त्ल भी इसीलिए हुआ। ख़ैर, हिन्दुस्तान के विभाजन का और मासूम लोगों के क़त्ल का यह जो मुझ पर इलज़ाम था इसे कोई मनोविज्ञान का विशेषज्ञ भले ही समझ सके, मैं नहीं समझ सकती। और देखने में आया कि अब वह फिर मेरे विरुद्ध बोलते थे और मेरे विरुद्ध कविताएं लिखते थे। यह नफ़रत मानो एक गोल दायरा थी, जिसका आख़िरी सिरा फिर पहले सिरे से जुड़ना ही था…

१९४७

पुराने इतिहासों के भीषण अत्याचारी कांड हम लोगों ने भले ही पढ़े हुए थे, पर फिर तब भी हमारे देश के बटवारे के समय जो कुछ हुआ किसी की कल्पना में भी उस-जैसा खूनी कांड नहीं आ सकता।

दु:खों की कहानियां कह-कहकर लोग थक गए थे, पर ये कहानियां उम्र से पहले खत्म होने वाली नहीं थीं। मैंने लाशें देखी थीं, लाशों जैसे लोग देखे थे, और जब लाहौर से आकर देहरादून में पनाह ली, तब नौकरी की और दिल्ली में रहने के लिए जगह की तलाश में दिल्ली आयी, और जब वापसी का सफ़र कर रही थी तो चलती हुई गाड़ी में नींद आंखों के पास नहीं फटक रही थी···

गाड़ी के बाहर घोर अंधेरा समय के इतिहास के समान था। हवा इस तरह सांय-सांय कर रही थी जैसे इतिहास के पहलू में बैठकर रो रही हो। बाहर ऊंचे-ऊंचे पेड़ दु:खों की तरह उगे हुए थे। कई जगह पेड़ नहीं होते थे, केवल एक वीरानी होती थी, और इस वीरानी के टीले ऐसे प्रतीत होते थे जैसे टीले नहीं, क़ब्रें हों।

वारिस शाह की पंक्तियां मेरे जेहन में घूम रही थीं—'भला मोए ते विछड़े कौन मेले···''[1]और मुझे लगा वारिस शाह कितना बड़ा कवि था, वह हीर के दु:ख को गा सका। आज पंजाब की एक बेटी नहीं, लाखों बेटियां रो रही हैं, आज इनके दु:ख को कौन गाएगा ? और मुझे वारिस शाह के सिवाय और कोई ऐसा नहीं लगा जिसे संबोधन करके मैं यह बात कहती।

उस रात चलती हुई गाड़ी में हिलते और कांपते कलम से एक कविता लिखी—

अज्ज आक्खां वारिस शाह नूं किते कबरां विच्चों बोल
ते अज्ज किताबे-इश्क दा कोई अगला वरका फोल···
इक्क रोई सी धी पंजाब दी, तूं लिख लिख मारे वैन
अज्ज लक्खां धीयां रोन्दियां, तैनूं वारिस शाह नूं कहन
उठ दर्दमंदां दिया दर्दिया ! उठ तक्क अपणा पंजाब

१. जो मर चुके हैं, जो विछुड़ चुके हैं, उनसे कौन मिलन कराए !

अज्ज वेल्ले लाशां विच्छियां ते लहू दी भरी चिनाव…[1]

कुछ समय बाद यह कविता छपी, पाकिस्तान भी पहुंची और कुछ देर बाद जब पाकिस्तान में फ़ैज़ अहमद फ़ैज़ की किताब छपी, उसकी प्रस्तावना में अहमद नदीम क़ासमी ने लिखा कि यह कविता उन्होंने जब पढ़ी थी जब वह जेल में थे। जेल से बाहर आकर भी देखा कि लोग इस कविता को जेबों में रखते हैं, निकाल-कर पढ़ते हैं, और रोते हैं…

फिर, १९७२ में लंदन गयी, तो वहां बी० बी० सी० के एक कमरे में किसी ने पाकिस्तान की शायरा सहाब क़िज़लबाश से मुलाक़ात करवायी। सहाब के पहले शब्द थे—'अरे, यह अमृता हैं, जिन्होंने वह कविता लिखी थी वारिस शाह, इनसे तो गले मिलेंगे…'

वहां ही एक शाम सुरिन्दर कोछड़ के घर पर महफ़िल थी, जहां सहाब थी, और पाकिस्तान के और साहित्यिक थे—साक़ी फ़ारूक़ी, फ़हमीदा रयाज़, और 'उदास नस्लें' का लेखक अब्दुल्ला हुसैन, और साथ ही पाकिस्तान के मशहूर गवैये थे नजाकत अली सलामत अली। रात कविताओं से भरी हुई थी, पर जब नजाकत अली से कुछ गाने के लिए कहा गया, तो उनके पास साज़ नहीं थे, कहने लगे—'हमने आज तक बिना साज़ के कभी नहीं गाया।' पर साथ ही बोले—'जिसने वारिस शाह कविता लिखी है, आज उसके लिए बिना साज़ के भी गाएंगे।' और वह रात नजाकत अली की सुरीली आवाज़ में भीग गयी…

अब १९७५ में जब पाकिस्तान के मुलतान शहर से एक साहित्यिक मशकूर साबरी उर्स के मौके पर दिल्ली आए तो उन्होंने बताया कि पिछले कई बरसों से वह मुलतान में 'जश्ने वारिस शाह' मनाते हैं जिसमें लोक-गीतों का, लोक-नृत्य का और लोक-कला का प्रदर्शन भी होता है, और मुशायरा भी, और यह जश्न मेरी उस नज़्म 'वारिस शाह' से शुरू किया जाता है। वह सौ गुणा अस्सी फुट की स्टेज पर सेट लगाते हैं जहां रांझे का बन भी होता है, हीर का मुक़ाम भी, और यह नज़्म क़रीब पचीस मिनट गायी जाती है। स्टेज पर घुप्प अंधेरा करके एक रोशनी से धुआं दिखाते हैं, फिर वारिस शाह क़ब्र में से उठता है…पाकिस्तान के मशहूर गवैये एक-एक कड़ी गाते हैं, और उन्हीं के मुताबिक स्टेज के दृश्य बदलते

---

१. आज वारिस शाह से कहती हूं अपनी क़ब्र में से बोलो
और इश्क़ की किताब को कोई नया पृष्ठ खोलो
पंजाब की एक बेटी रोयी थी, तूने लम्बी दास्तान लिखी
आज लाखों बेटियां रो रही हैं, वारिस शाह तुम से कह रही हैं
ऐ दर्दमंदों के दोस्त! अपने पंजाब को देखो
बन लाशों से अंटे पड़े हैं, चिनाब लहू से भर गया है…

जाते हैं···और जब नज़्म का आख़िरी हिस्सा आता है, तो ऐसी गूंज पैदा करते हैं, जैसे सारी कायनात में मुहब्बत और ख़लूस जाग पड़ा हो···

पर यही कविता थी, जब लिखी थी, तब अपने पंजाब में कई पत्र-पत्रिकाएं मेरे लिए तोहमतों से भर गयी थीं। सिक्खों को यह आपत्ति थी कि यह कविता वारिस शाह को संबोधन क्यों की, गुरु नानक को संबोधन करके लिखनी चाहिए थी। और कम्यूनिस्ट कहते थे कि मैंने लेनिन या स्टालिन को संबोधन करके क्यों नहीं लिखी। यहां तक कि इस कविता के विरुद्ध कई कविताएं लिखी गयीं···

सिर्फ़ औरत

बचपन की पनपती उम्र में, न जाने किस घड़ी, एक कल्पना भी शरीर का अंग बन जाती है और पनपने लगती है···

और अपना मन अपने आप ही जादू बुनने लगता है···

दुनिया को सिर्जने वाली ईश्वर की शक्ति का, मुट्ठीभर भाग, शायद हर इन्सान के हिस्से में आता है, पता नहीं, पर मेरे हिस्से में ज़रूर आया था···

और इसमें से—मैंने एक मर्द की परछाई गढ़ी थी।

और उस परछाईं को अंग के संग लेकर—आयु के वर्ष पार करने लगी थी···

हो सकता है—यह जिसे मैंने शक्ति कहा है—अपने सहज रूप में शक्ति नहीं है, यह कुछ उस प्रकार की ताकत है जो बड़े ख़तरे के समय एक उस साधारण-से व्यक्ति में भी आ जाती है जो समस्त नाशकारी शक्तियों को सामने देखकर अपना अंतिम साधन भी अपने अंगों में जगा लेता है···

औरत थी, चाहे बच्ची-सी, और यह भय-सा विरासत में पाया था कि दुनिया के भयानक जंगल में से मैं अकेली नहीं गुज़र सकती। और शायद इसी भय में से अपने साथ के लिए मर्द के मुंह की कल्पना करना—मेरी कल्पना का अंतिम साधन था···

पर इस मर्द शब्द के मेरे अर्थ कहीं भी पढ़े, सुने, या पहचाने हुए अर्थ नहीं थे। अंतर में कहीं जानती अवश्य थी पर अपने आपको भी बता सकने की सामर्थ्य मुझमें नहीं थी। केवल एक विश्वास-सा था—कि देखूंगी तो पहचान लूंगी।

पर दूर मीलों तक कहीं भी कुछ दिखायी नहीं देता था।
और इस प्रकार वर्षों के कोई अड़तीस मील गुज़र गए।

मैंने जब उसे पहली बार देखा···तो मुझसे भी पहले मेरे मन ने उसे पहचान लिया। उस समय मेरी आयु कोई अड़तीस वर्ष थी···

यह कल्पना इतने वर्ष जीवित रही, और इसके अर्थ भी जीवित रहे—इस पर चकित हो सकती हूं, पर हूं नहीं, क्योंकि जान लिया है कि यह मेरे 'मैं' की परिभाषा थी—थी भी, और है भी।

मैं उन वर्षों में नहीं मिटी, इसलिए वह भी नहीं मिटी···

यह नहीं कि कल्पना से शिकवा नहीं किया, उस आयु की कई कविताएं निरी शिकवा ही हैं, जैसे :

'लक्ख तेरे अम्बारां विच्चों, दस्स की लभ्भा सान्नू
इक्को तंद प्यार दी लभ्भी, ओह वी तंद इकहरी···'[1]

पर यह इकहरा तार वर्षों के बीतने पर भी क्षीण नहीं हुआ। उसी तरह मुझे अपने में लपेटे हुए मेरी उम्र के साथ चलता रहा···

इन वर्षों की राह में, दो बड़ी घटनाएं हुईं। एक—जिन्हें मेरे दुःख-सुख से जन्म से ही संबंध था, मेरे माता-पिता, उनके हाथों हुई। और दूसरी मेरे अपने हाथों। यह एक—मेरी चार वर्ष की आयु में मेरी सगाई के रूप में, और मेरी सोलह-सतरह वर्ष की आयु में मेरे विवाह के रूप में थी। और दूसरी—जो मेरे अपने हाथों हुई—यह मेरी बीस-इक्कीस वर्ष की आयु में मेरी एक मुहब्बत की सूरत में थी।

पर कल्पना, जो मेरे अंगों की भांति मेरे शरीर का भाग थी, वह मेरे शरीर में निर्लेप होकर बैठी रही···

उसे कई वर्ष समाज ने भी समझाया, और कई वर्ष मैंने स्वयं भी, पर उसने पलकें नहीं झपकायीं। वह वर्षों के पार—उस वीरानगी की ओर देखती रही, जहां कुछ भी नज़र नहीं आता था···

और जब उसने पलकें झपकायीं, तब मेरी आयु को अड़तीसवां वर्ष लगा हुआ था···

और तब···मैंने जाना···कि क्यों उसे, उससे कुछ अलग, या आधा, या लगभग-सा कुछ भी नहीं चाहिए था।

---

१. तेरे लाखों अम्बारों में से बताओ हमें क्या मिला
प्यार का एक ही तार मिला, वह भी इकहरा···

यूं तो—मेरे भीतर की औरत सदा मेरे भीतर के लेखक से दूसरे स्थान पर रही है···कई बार यहां तक कि मैं अपने भीतर की औरत का अपने आपको ध्यान दिलाती रही हूं। 'सिर्फ़ लेखक' का रूप सदा इतना उजागर होता है कि मेरी अपनी आंखों को भी अपनी पहचान उसी में मिलती है।

पर ज़िन्दगी में तीन समय ऐसे आए हैं—मैंने अपने अंदर की 'सिर्फ़ औरत' को जी भरकर देखा है। उसका रूप इतना भरा-पूरा था कि मेरे अंदर के लेखक का अस्तित्व मेरे ध्यान से विस्मृत हो गया। वहां, उस समय, कोई थोड़ी-सी भी खाली जगह नहीं थी, जो उसकी याद दिलाती। यह याद केवल अब कर सकती हूं—वर्षों की दूरी पर खड़े होकर।

पहला समय तब देखा था जब मेरी आयु पचीस वर्ष की थी। मेरे कोई बच्चा नहीं था और मुझे प्रायः रात को एक बच्चे का स्वप्न आया करता था। एक छोटा-सा चेहरा—बड़े तराशे हुए नक्श, सीधा टुकुर-टुकुर मेरी ओर देखता हुआ। और कई बार वही स्वप्न देखने के कारण मुझे उस बच्चे के चेहरे की पक्की पहचान हो गयी थी। स्वप्न में वह मुझसे बात भी करता था, रोज़ एक ही बात, और मुझे उसकी आवाज़ की भी पूरी पहचान हो गयी थी। स्वप्न में मैं पौधों में पानी दे रही होती थी—और अचानक एक गमले में फूल खिलने की जगह एक बच्चे का चेहरा खिल उठता था···

मैं चौंककर पूछती थी—'तू कहां था? मैं तुझे ढूंढ़ती रही···'

और वह चेहरा हंस पड़ता था—'मैं यहीं था, छिपा हुआ था।'

और मैं जल्दी से गमले में से बच्चे को उठा लेती थी।

जब मैं जाग जाती थी, मैं वैसी की वैसी ही होती थी—सूनी, वीरान और अकेली। एक 'सिर्फ़ औरत'—जो अगर मां नहीं बन सकती थी, तो जीना नहीं चाहती थी।

दूसरी बार ऐसा ही समय मैंने तब देखा था जब एक दिन साहिर आया था तो उसे हल्का-सा बुखार चढ़ा हुआ था। उसके गले में दर्द था—सांस खिचा-खिचा था। उस दिन उसके गले और छाती पर मैंने 'विक्स' मली थी। कितनी ही देर मलती रही थी—और तब लगा था, इसी तरह पैरों पर खड़े-खड़े मैं पोरों से, उंगलियों से और हथेली से उसकी छाती को हौले-हौले मलते हुए सारी उम्र गुज़ार सकती हूं। मेरे अंदर की 'सिर्फ़ औरत' को उस समय दुनिया के किसी काग़ज़-क़लम की आवश्यकता नहीं थी।

और तीसरी बार यह 'सिर्फ़ औरत' मैंने तब देखी थी जब अपने स्टूडियो में बैठे हुए इमरोज़ ने अपना पतला-सा ब्रुश अपने काग़ज़ के ऊपर से उठाकर उसे एक बार लाल रंग में डुबाया था, और फिर उठकर उस ब्रुश से मेरे माथे पर एक बिंदी लगा दी थी···

मेरे भीतर की इस 'सिर्फ़ औरत' की 'सिर्फ़ लेखक' से कोई अदावत नहीं। उसने आप ही उसके पीछे, उसकी ओट में खड़े होना स्वीकार कर लिया है—अपने वदन को उसकी आंखों से चुराते हुए, और शायद अपनी आंखों से भी। और जब तीन बार—उसने अगली जगह पर आना चाहा था, मेरे भीतर की 'सिर्फ़ लेखक' ने पीछे हटकर उसके लिए जगह खाली कर दी थी।

'सिर्फ़ लेखक' का रूप मेरे अंग के संग रहता है—विचारों में भी, सपनों में भी—और इस तरह उसकी और मेरी सूरत एक ही हो गयी है। पर 'सिर्फ़ औरत' का रूप मैंने केवल तीन बार देखा है—वह एक वास्तविकता है—पर आंखों से उसे केवल तीन बार देखा है। इसलिए कई बार हैरान-सी हो जाती हूं—वह कैसा था? क्या मैंने सचमुच देखा था?

एक क़र्ज़

अठारह सौ सत्तावन के ग़दर के संबंध में मुझे कुछ मालूम नहीं है। पर यह शब्द 'ग़दर' दादी अम्मा से सुनी हुई किसी कहानी की तरह मेरे भीतर कहीं अटका हुआ था···

यह शब्द किसी जीवित वस्तु की तरह भी था, और मरी हुई चीज़ की तरह भी···

कभी कई तरह की आवाज़ें इसमें से आती हुई सुनी थीं— न जाने किन की, पर इन्सानी आवाज़ें—एक-दूसरे से टूटती हुई, एक-दूसरे को खोजती हुई, तलवारों की तरह खनकती हुई भी, घावों की तरह रिसती हुई भी···

कई रंग भी इस शब्द में से लहू की तरह बहते थे···

पर फिर, यह भी लगता था कि यह शब्द कब का मर चुका है, केवल मेरे विचार कभी इस पर चींटियों की तरह चढ़ जाते हैं···

इस ग़दर की केवल एक निशानी मैंने अपनी आंखों से देखी थी— जिस घराने में व्याह हुआ यह निशानी उस घराने में पिछली पीढ़ी से चली आ रही थी। यह एक क़ालीन था जो दिल्ली के लूटे जाने के समय इस घराने के एक सरदार ने लूटा था। किसी ज़माने में इसके न जाने कैसे रंग थे, पर जब मैंने देखा यह केवल रंगों का और रेशम का एक खंडहर-सा था। घर का दादा सदा इस क़ालीन पर सोता था। तब यह घराना लाहौर में रहता था। फिर उन्नीस सौ सैंतालिस में जब हिन्दू-मुसलमानों का तबादला हुआ, यह घराना दिल्ली आ गया। लाहौर के

भरे घर को छोड़कर जब सब दिल्ली आने लगे, तब घर के मुखिया दादा ने आने से इनकार कर दिया। उसका खयाल था, यह अफ़रातफ़री थोड़े दिनों की है, सरकारें लोगों के घर नहीं छीन सकतीं, इसलिए वह वहीं रहेगा और भरे घर की रखवाली करेगा। पर जब हालत बहुत बिगड़ गयी तो मिलिटरी ने उसे ट्रक में बिठाकर वहां से दिल्ली भेज दिया। बिस्तर के नाम पर केवल वही क़ालीन था जो अपने साथ वह ला सका, और कुछ नहीं। भरा हुआ घर छोड़ने का दुःख, और रास्ते का कष्ट, उससे बहुत दिन सहन नहीं हो सका, दिल्ली पहुंचकर वह बहुत थोड़े दिन जीवित रहा। जिस समय उसकी मृत्यु हुई वही क़ालीन उसके नीचे बिछा हुआ था। उसके बाद वह क़ालीन किसी ग़रीब-गुरबे को दे दिया गया। एक बात उस समय सब की ज़बान पर थी—'दिल्ली के ग़दर में यह क़ालीन हमने दिल्ली में लूटा था, आज दिल्ली से लूटी हुई चीज़ एक सदी के बाद दिल्ली को वापस लौटा दी···'

लूट भी शायद एक क़र्ज़ होती है जो कभी न कभी लौटानी पड़ती है···

कभी एक भयानक-सा विचार आता कि मुझे भी किसी का कुछ लौटाना है—मालूम नहीं क्या, मालूम नहीं किसे, और मालूम नहीं कब···

कभी कंघी से बाल संवारते हुए कंघी बालों में अटक जाती थी—विचार अटकावों की तरह आ जाते थे—मेरी मां की मां ने, और उसकी मां की मां ने, हर औरत की मां ने न जाने किस ग़दर में समाज से ये सोलह सिंगार लूटे थे, और यह हार-सिंगार पीढ़ी-दर-पीढ़ी चले आ रहे हैं···पर समाज का यह क़र्ज़ उतारना है, न जाने कब, न जाने किस तरह···मुझे भी, और न जाने और कितनी औरतों को भी···

और किसी का पता नहीं, पर लगता था, मैं बहुत क़र्ज़दार हूं···

हिन्दुस्तान के विभाजन से पहले भी कई बार ऐसा लगा करता था। एक बार इसी कसक से एक कविता लिखी थी—'हमसफ़र, अब साथ तेरा दूर जा रहा है···' पर इस दूरी का संबंध किसी बाहरी घटना से जुड़ा हुआ नहीं था, यह फ़ासला सिर्फ़ भीतर का था···

यही भीतर का फ़ासला १९६० में धरती को फाड़कर बाहर आ गया था। यह धरती के फटने का समय मेरे शरीर की हड्डियों को चटका देने वाला समय था। छाती का ईमान कहता था, मैं अपने खाविन्द को उसका हक़ नहीं दे रही हूं, उसकी छाया मैंने ग़दर के माल की तरह चुराई हुई है, उसे लौटाना है··· लौटाना है ···

उसके लिए दोनों हालतें दुःखदायी थीं—जो फ़ासला विचारों की रग-रग में था, वह भी दुःखदायी था, और जो फ़ासला सामाजिक रूप में पड़ना था, वह भी। दोनों में से एक का चुनाव सामने था—पर पहली हालत के मुक़ाबले में दूसरी

हालत से ईमान जरूर बहुत ज़्यादा जुड़ा हुआ था। इसलिए दूसरी हालत चुनी। दोनों को एक-दूसरे से कोई शिकवा नहीं था, एक यह गंभीर दोस्ताना फ़ैसला था जिसमें किसी की भी ज़बान पर किसी के भी व्यक्तित्व को छोटा करने वाले शब्द के आने का प्रश्न नहीं था। जो कुछ एक-दूसरे से पाया था, उससे इनकार नहीं था। जो नहीं पाया था, उसके लिए कोई गिला नहीं था। सिर्फ़ जो 'अनपाया' था, यह दूरी उसी का तक़ाज़ा थी, उसी की ज़रूरत। मेरा खयाल है—दोनों के लिए एक समान आवश्यक।

अपने-अपने भाग का दर्द बांटकर ले लिया। चेहरे इतने सुर्ख़रू थे, सच्चे थे, कि इस दर्द से उन्हें मुंह छिपाने की आवश्यकता नहीं थी। यह दर्द भी आंखों और होंठों की तरह चेहरों का एक भाग था—या तिल की तरह था, या मस्से की तरह। इसे परवान करना था, किया। अपने अंगों की भांति। और इसे अपने अस्तित्व का एक हिस्सा मानकर।

क़ानून को अजनबी समझकर कुछ नहीं कहा—न उससे कुछ पूछा, न उसे कुछ बताया। जब साथ चुना था तब बहुत अनजान थे, इसलिए क़ानून का आसरा लिया था, पर जब साथ छूटा तब दोनों के अन्दर की सच्चाई दोनों के लिए क़ानून से कहीं अधिक तगड़ी हो चुकी थी···

जानती हूं—उसके बाद के वर्षों ने जो इन्साफ मेरे साथ किया है, वह मुझ से विछुड़े मेरे हमसफ़र के साथ नहीं किया। मुझे उसके बाद के वर्षों में इमरोज़ की हसीनतर दोस्ती मिल गयी, पर उसे केवल अकेलापन मिला। उसे कुछ भी देते समत ज़िन्दगी के हाथ कंजूस हो गए।

हम अब भी दोस्त की तरह मिलते हैं, पर जानती हूं, इतनी-सी चीज अकेलेपन को नहीं भर सकती। अकेलेपन का शाप जिस भी अच्छे मनुष्य ने झेला है, उसके आगे सिजदे में सिर झुक जाता है।

पर झुके हुए सिर में भी एक मान है—सिर से भी ऊंचा, कि जिस सुरक्षा का मैंने मोल नहीं दिया था, और जो सामाजिक स्थान और घर-घराने की आबरू मैंने ज़िन्दगी के ग़दर में ऐसे ही रास्ता चलते हासिल कर ली थी, वह लौटा सकी हूं—एक क़र्ज़ था, उतार सकी हूं।

जो अकसर होता है वह मेरे साथ नहीं हुआ। अकसर कहानी के वे पात्र वैर या विरोध के दाग़ कहानी को लगाते हैं, जिनका कहानी से निकट संबंध होता है। और दूर-पार के लोगों में से बहुत-से निर्लिप्त रहते हैं, पर कुछ ऐसे होते हैं जो कुछ थोड़ा-सा दर्द बंटा लेते हैं।

पर मेरी कहानी से जिन्होंने बरसों विरोध रखा है वे कहानी के दूर-पार के भी कुछ नहीं लगते थे—वे कुछ मेरे समकालीन लेखक थे, कुछ वे रास्ता चलते दुःख देकर जाने वाले जिन्हें मेरे मन की तो क्या सूरत की भी पहचान नहीं थी

और थे कुछ पंजाबी अखबार (मेरे एक समकालीन ने मुझसे अलग हुए मेरे खाविन्द के आगे यहां तक सयापन जताया था कि यदि वह एक बार कागज़ पर हस्ताक्षर कर दें, तो वह कई बरस तक मुझे कचहरियों की खाक छनवाता रहेगा)। पर जो इस कहानी के धागों में बुने हुए थे वह सदा चुपचाप अपने हिस्से की चीसों और पीड़ाओं को झेलते रहे। बरसों के बाद भी कहीं भेंट हो जाती तो आंखें अदब से भर जातीं। इन्हीं आंखों के बारे में आज भी विश्वास से कह सकती हूं, इन्होंने या आंसू झेले हैं, या अदब, इन्हें और किसी तीसरी चीज़ से वास्ता नहीं है।

मेरे और मुझसे अलग हुए मेरे साथी के रिश्ते की, मैंने देखा, एक देविन्दर ने कुछ थाह पा ली थी। उसने जब मुझ पर 'क़लम का भेद' पुस्तक लिखी, और वह छपकर आयी, तो मैं उसका 'समर्पण' देखकर चकित हुई थी—'किसी मन के और घर के उस दरवाज़े के नाम जो अमृता के लिए कभी बन्द नहीं हुआ'—और वह बड़े आदर से यह किताब मेरे उस साथी को देने गया था जिससे मैं अलग हो चुकी थी।

अलग होने का अर्थ यह नहीं था कि 'सलाम तक न पहुंचे'। बच्चों की किसी ज़रूरत के समय, या मेरे इनकमटैक्स के किसी झमेले के समय, या यूं ही कुछ दिनों बाद, मैं भी फ़ोन कर लेती थी, वह भी। इस सादगी और स्वाभाविकता को बाहर के लोगों में अगर कोई समझ सका तो वह आस्ट्रेलिया की एक लेखिका बैटी 'कॉलिन्स' है जो अपने पति से तलाक़ लेकर फिर हर कठिनाई के समय, उसी से दोस्तों की भांति सलाह लेती है, और उसके तलाक़ किए हुए पति की दूसरी पत्नी जब भी अपने पति के स्वभाव से कभी परेशान होती है तो वह बैटी को फ़ोन कर उससे मिलती है, दोनों साथ कॉफ़ी पीने जाती हैं और वह बैटी से सलाह लेती है कि अपने पति के स्वभाव से वह कैसे निबाह कर सकती है।

ये सादगियां भी शायद खुद जिये बिना समझ की पकड़ में नहीं आतीं।

१९५९ की एक क़ब्र—एक भयानक पल

पिताजी जब तक जीवित थे, सुनाया करते थे कि ज़िन्दगी की पहली भयानक हैरानी उन्हें उस समय हुई थी जब एक बार परदेस जाते समय उन्होंने अपने नाना की सम्पत्ति में मिला गहनों और अशर्फ़ियों से भरा हुआ एक ट्रंक अपने शहर गुजरांवाला की एक पूजनीय भक्त महिला कहलाने वाली स्त्री के पास धरोहर के रूप में रखा था, और जिसने बाद में केवल यही कहा था—'कैसा ट्रंक ?'

और १९५९ में अपने पिता के चेहरे की कल्पना करके जैसे मैं कह रही थी, "आपके गुजरांवाला की एक भक्तिन होती थी न, उसकी गुरु-गद्दी पर बैठने वाली एक भक्तिन मैंने भी देखी है। मैंने उसके पास विश्वास से भरा हुआ एक ट्रंक अमानत के तौर पर रखा था और अब वह कह रही है—'कैसा विश्वास ?"

यह बड़ा भयानक पल था। अंधेरा बादलों की तरह घिरता आ रहा था, उदासी बूंद-बूंद बरस रही थी, पर बादल खुलते नहीं थे। उस भले-से चेहरे वाली लड़की को कई बरस प्यार किया था। बीते हुए दिन बादलों के नित बदलते रूप की तरह आंखों के आगे कई रूप धारण करने लगे। सोचने लगी—यह मेघ-माया ऐसी यादों के लिए तो नहीं बनी थी···

शरीर में से जैसे कोई चुभी हुई सूइयां निकालता है, एक-एक याद को लेकर एक-एक कहानी लिखी—काले अक्षर, कर्मों वाली, केले का छिलका। और 'एक थी अनीता' उपन्यास में शान्ति बीबी का पात्र। पर उस 'शान्ति बीबी' ने जो-जो कुछ किया था, उसका ज़खीरा खत्म नहीं होता था। १९७० में फिर एक लम्बी कहानी लिखी—'दो औरतें (नम्बर पांच)' और उस कहानी की 'मिस बी' में, लगा, वह बहुत हद तक समा गयी थी।

वह छोटी-सी बच्ची थी जब परिचित हुई थी। (उसके परिचय का पूरा विवरण 'दो औरतें (नम्बर पांच)' कहानी में है।) उसके विवाह के समय, मेरे पास जो पाकिस्तान के बचे-खुचे दो-तीन गहने थे, वे दे दिए थे। उनका ग़म नहीं था, सिर्फ़ यह था—कि अंधेरा जब हंसता था, तो वे गहने भी बहुत ज़ोर से हंसते थे—फिर समय बीतने पर ध्यान से देखा तो लगा—गहने नहीं, टूटे हुए विश्वास के टुकड़े थे, जो अंधेरे में चमकते थे और हंसते थे···

उसकी मासूम-सी दिखनेवाली बातों को मैंने रेशमी धागों के समान गले से लगाया था, शिवजी ने सांपों को गले में डाला था, पर रेशमी धागे समझकर नहीं। सोचा करती थी, मैं शिवजी नहीं हूं, फिर शिवजी ने मुझे अपनी तक़दीर क्यों दी ?

मैं धीमी से धीमी गंध भी सूंघ सकती हूं, पर झूठ की तेज़ से तेज़ गंध सूंघने की मुझमें शक्ति नहीं थी।

यह शक्ति मेरे पिता में भी नहीं थी। छुटपन में आंखों से देखा था—उन्होंने सियालकोट के एक आदमी को पढ़ाया-लिखाया, फिर अपने पास नौकरी दी। पर एक बार उसने पिताजी के एक पत्र की ऊपर की लिखत फाड़कर हस्ताक्षर वाले स्थान से ऊपर के खाली स्थान में एक नयी लिखत लिख ली कि उन्होंने इतने हज़ार रुपया (पूरी रक़म अब मुझे याद नहीं है) उससे उधार लिया है, और कचहरी में दावा कर दिया। मैं उस व्यक्ति को मामाजी पुकारा करती थी। बहुत छोटी थी, पर उस समय अपने पिता के चेहरे पर जो दुःखभरी हैरानी देखी थी,

वही फिर १९५९ में मैंने अपने चेहरे पर देखी।

हैरान थी—घटनाओं की शक्लें कैसे मिल जाती हैं? इस लड़की को पढ़ाई के लिए किताबें दी थीं, फ़ीसें दी थीं, बिलकुल उसी तरह जैसे मेरे पिता ने एक रिश्तेदार बच्चे को पास रखकर पढ़ाया था, फिर आखिरी उम्र में जब वह ज़िला हज़ारीबाग़ चले गए, कुछ एकड़ ज़मीन खरीदकर एक बग़ीचा लगाने का उन्हें चाव था, उस लड़के को साथ ले गए थे। सब-कुछ उस बग़ीचे के नक़्शों की लकीरों में रह गया, और मियादी बुखार से उनकी ज़िन्दगी खत्म हो गयी। उनकी ख़रीदी हुई ज़मीन के बारे में कुछ समय तक पत्र आते रहे, फिर लम्बी खामोशी छा गयी। सोच भी नहीं सकती थी—पर पता लगा कि उस लड़के ने ग़ैर-क़ानूनी तौर से वह ज़मीन बेच दी थी और सारी रक़म जेब में डालकर चुप्पी साध ली थी। उसके बारे में और इसके बारे में सिर्फ़ एक ही फ़िक़रा बचा रह गया—'यह सोच भी नहीं सकती थी···यह सोच भी नहीं सकती थी···'

यह १९५९ का वही पल है जब मैंने उस लड़की को अन्तिम बार देखा था, और आकाश से एक तारा टूटते हुए देखा था, वह विश्वास का तारा था।

१९६०

यह बरस मेरी ज़िन्दगी का सबसे उदास बरस था, ज़िन्दगी के कैलेंडर में फटे हुए पृष्ठ की तरह। मन ने घर की दहलीज़ों के बाहर पांव रख लिया था, पर सामने कोई रास्ता नहीं था, इसलिए घबराकर कांपने लगा।

साहिर को बम्बई फ़ोन करने के लिए फ़ोन के पास गयी थी कि अजीब संजोग हुआ था, कि उस दिन के 'ब्लिट्ज़' में तसवीर भी थी और खबर भी कि साहिर को ज़िन्दगी की एक नयी मुहब्बत मिल गयी है। हाथ फ़ोन के डायल से कुछ इंच दूर शून्य में खड़े रह गए···

उन्हीं दिनों मैंने अपने मन की दशा को आस्कर वाइल्ड के इन शब्दों में पहचाना था—'मैंने मर जाने का विचार किया···ऐसे भीषण विचार में जब ज़रा कुछ कमी हुई तो मैंने जीने के लिए अपना मन पक्का कर लिया। पर सोचा, उदासी को मैं अपना एक शाही लिबास बना लूंगा, और हर समय पहने रहूंगा··· जिस दहलीज़ के अन्दर पांव रखूंगा, वह घर वैराग्य का स्थान बन जाएगा··· मेरे दोस्तों के पांव मेरी उदासी के साथ-साथ चला करेंगे···लोगों ने मुझे सलाह दी कि यह सब कुछ जो दुःखदायी है, मैं भूल जाऊं। मैं जानता हूं, इस तरह करना बिलकुल घातक है। इसका अर्थ है कि चांद-सूरज की सुन्दरता, सवेरे की पहली

किरनों का संगीत, गहरी रातों की खामोशी, पत्तों में से छनती हुई मेंह की बूंदें, घास पर फिसलती हुई ओस, यह सब कुछ मेरे लिए कड़वा हो जाएगा···अपने अनुभव से इनकारी होना ऐसा है जैसे अपनी ज़िन्दगी के होंठों में कोई हमेशा के लिए झूठ भर ले···यह अपनी रूह से इनकारी होना है···

इमरोज़ से दोस्ती थी, पर अनेक प्रकार की दुविधाओं में से गुज़रती हुई। ज़िन्दगी की सब से उदास कविताएं मैंने इस वर्ष लिखीं। उन दिनों का एक अजीब सपना मुझे एक-एक अक्षर याद है —

गाड़ी में सफ़र कर रही थी। सामने की सीट पर एक बुज़ुर्ग चेहरा था, बड़ा नर्म-सा और चमकता हुआ।

लम्बे सफ़र में मैं किताबों के पन्ने पलटती रही, और फिर मेरी खामोश किताबों ने उस बुज़ुर्ग को बातों में लगा लिया। उसने मुझ से पूछा, 'तुमने कभी काला गुलाब देखा है?'

'काला गुलाब?—नहीं तो।'

'थोड़ी देर में यहां एक स्टेशन आएगा, वहां से एक रास्ता एक छोटे-से गांव को जाता है। उस गांव में गुलाब के फूलों का एक बाग़ है, उस बाग़ में थोड़े-से लाल रंग के गुलाब हैं, बाक़ी सारा बाग़ काले गुलाब के फूलों से भरा हुआ है।'

'सच?'

'तुम्हें मैं विश्वास के क़ाबिल जाना पड़ता हूं या नहीं?'

'मैंने तो अविश्वास की कोई बात नहीं कही।'

'तुम वह बाग़ देखना चाहोगी?'

मैं यही सोच रही थी—अगर मैं वह बाग़ देख सकूं···

'उसकी एक कहानी भी है···'

'क्या?'

'अगर तुम उसे देखने चलो, तो मैं वहां पर ही यह कहानी सुनाऊंगा।'

'मैं चलूंगी।'

और फिर एक स्टेशन पर मैं और वह बुज़ुर्ग आदमी उतर गए। एक लम्बा कच्चा रास्ता पकड़ लिया। वहां कोई सवारी नहीं जाती थी—और फिर सचमुच हम एक बाग़ में पहुंच गए।

इतना बड़ा और चमकदार गुलाब मैंने ज़िन्दगी में कभी नहीं देखा था। गुलाब की पत्तियों पर से आंख फिसल-फिसल पड़ती थी। बहुत बड़ा बाग़ था — एक छोटे-से हिस्से में लाल रंग के गुलाब थे और एक छोटे हिस्से में सफ़ेद दूधिया रंग के। बाक़ी सारा बाग़, मीलों में फैला हुआ, काले गुलाबों से भरा हुआ था।

'इसकी कहानी?'

'कहते हैं एक औरत थी। उसने बड़े सच्चे मन से किसी से मुहब्बत की। एक बार उसके प्रेमी ने उसके बालों में लाल गुलाब का फूल अटका दिया। तब औरत ने मुहब्बत के बड़े प्यारे गीत लिखे।

'वह मुहब्बत परवान नहीं चढ़ी। उस औरत ने अपनी ज़िन्दगी समाज के ग़लत मूल्यों पर न्योछावर कर दी। एक असह्य पीड़ा उसके दिल में घर कर गई, और वह सारी उम्र अपने क़लम को उस पीड़ा में डुबोकर गीत लिखती रही।

'आत्म-वेदना एक वह दृष्टि प्रदान करती है, जिससे कोई परायी पीड़ा को देख सकता है। उसने अपनी पीड़ा में समूची मानवता की पीड़ा को मिला लिया और फिर ऐसे गीत लिखे जिनमें केवल उसकी नहीं, जगत् की पीड़ा थी।'

'फिर?'

'जब वह औरत मर गयी, उसे इस धरती में दफ़ना दिया गया। उसकी क़ब्र पर न जाने किस तरह गुलाब के तीन फूल उग आए। एक फूल लाल रंग का था, एक काले रंग का और एक सफ़ेद रंग का।'

'अजीब बात है!'

'और फिर वे फूल अपने आप ही बढ़ते गए। न किसी ने पानी दिया, न किसी ने देखभाल की। और धीरे-धीरे यहां एक फूलों का बाग़ बन गया।

'अब तुमने अपनी आंखों से देख लिया है, एक हिस्से में लाल रंग के गुलाब हैं, एक हिस्से में सफ़ेद रंग के, और बाकी सारे हिस्से में काले रंग के।'

'लोग क्या कहते हैं?'

'लोग कहते हैं उस औरत ने जो मुहब्बत के गीत लिखे, वे लाल रंग के गुलाब बन गए हैं, जो दर्द-भरे गीत लिखे, वे गुलाब काले रंग के हो गए हैं—और जो उसने मानव-प्रेम के गीत लिखे, वे सफ़ेद गुलाब के फूल बन गए हैं...'

सिर से पैर तक मुझे एक कंपन आया, और मैंने उस बुजुर्ग से पूछा, 'आपका नाम क्या है?'

'मेरा नाम?—मेरा नाम 'समय'।'

'समय! आप मेरी कहानी ही मुझे सुना रहे हैं?'

समय की मुसकराहट और मेरे अपने कंपन के कारण मेरी आंख खुल गयी। और उन्हीं दिनों लिखा—

> दुःखान्त यह नहीं होता कि रात की कटोरी को कोई ज़िन्दगी के शहद से भर न सके और वास्तविकता के होंठ कभी उस शहद को चख न सकें—
>
> दुःखांत यह होता है जब रात की कटोरी पर से चन्द्रमा की क़लई उतर जाए और उस कटोरी में पड़ी हुई कल्पना कसैली हो जाए।

दु:खान्त यह नहीं होता कि आपकी क़िस्मत से आपके साजन का नाम-पता न पढ़ा जाए और आपकी उम्र की चिट्ठी सदा रुलती रहे।

दु:खान्त यह होता है कि आप अपने प्रिय को अपनी उम्र की सारी चिट्ठी लिख लें और फिर आपके पास से आपके प्रिय का नाम-पता खो जाए…

दु:खान्त यह नहीं होता कि ज़िन्दगी के लंबे डगर पर समाज के बंधन अपने कांटे बिखेरते रहें, और आपके पैरों में से सारी उम्र लहू बहता रहे।

दु:खान्त यह होता है कि आप लहू-लुहान पैरों से एक उस जगह पर खड़े हो जाएं जिसके आगे कोई रास्ता आपको बुलावा न दे।

दु:खान्त यह नहीं होता कि आप अपने इश्क़ के ठिठुरते शरीर के लिए सारी उम्र गीतों के पैरहन सीते रहें।

दु:खान्त यह होता है कि इन पैरहनों को सीने के लिए आपके पास विचारों का धागा चुक जाए और आपकी क़लम-सूई का छेद टूट जाए…

उस वर्ष के अंत में मैं एक साइकेट्रिस्ट के इलाज में भी रही, अपने आप को जानने के लिए, और उसके कहने के अनुसार हर रोज़ के अपने विचारों और स्वप्नों को काग़ज़ पर लिखा करती थी। उन्हीं दिनों के अजीबो-ग़रीब सपनों में से जो डॉक्टर के पढ़ने के लिए लिखे थे, कुछ ये हैं—

१

किसी बहुत ऊंची इमारत के शिखर पर मैं अकेले खड़े होकर अपने हाथ में लिये हुए क़लम से बातें कर रही थी—'तुम मेरा साथ दोगे?—कितने समय मेरा साथ दोगे?'

अचानक किसी ने कसकर मेरा हाथ पकड़ लिया।

'तुम छलावा हो, मेरा हाथ छोड़ दो।' मैंने कहा, और ज़ोर से अपना हाथ छुड़ाकर उस इमारत की सीढ़ियां उतरने लगी।

मैं बड़ी तेज़ी से उतर रही थी, पर सीढ़ियां खत्म होने में नहीं आती थीं। मेरा सांस तेज़ होता जा रहा था, डर रही थी कि अभी पीछे से आकर वह छलावा मुझे पकड़ लेगा।

आखिर सीढ़ियां ख़त्म हो गयीं, पर नीचे उतरकर देखा, सब ओर बाग़ ही बाग़ थे, और ज़मीन का चप्पा-चप्पा लोगों से भरा हुआ था। ये बाग़ भी उसी इमारत का हिस्सा थे और वहां लोगों का मेला लगा हुआ था। किसी तरफ़ लोग

नाटक खेल रहे थे, और किसी तरफ़ कोई मैच हो रहा था।

न जाने कहां से मेरी पुरानी साइकिल मुझे मिल गयी और मैं उस पर चढ़कर बाहर जाने का रास्ता खोजने लगी। बाग़ों के किनारे-किनारे साइकिल चलाते हुए मैं जिस तरफ़ भी जाती थी वहां आगे पत्थर की दीवार आ जाती थी और मुझे बाहर जाने का रास्ता नहीं मिलता था। मैं फिर किसी और तरफ़ साइकिल मोड़ लेती थी, पर वहां भी अंत में एक दीवार आ जाती थी और मुझे बाहर जाने का रास्ता नहीं मिलता था— इसी घबराहट में मेरी आंख खुल गयी।

२

सफ़ेद संगमरमर का एक बुत मेरे सामने पड़ा हुआ था। मैं उसकी ओर देखती रही, देखती रही, और फिर मैंने उससे कहा—'मैं तुम्हारा क्या करूंगी! न तुम बोलते हो और न सांस लेते हो। आज मैं तुम्हें तोड़ दूंगी—तुम्हारे टुकड़े-टुकड़े कर दूंगी—तुमने मेरी सारी उम्र गंवा दी है—मेरा तसव्वुर··· तुम मेरे आदर्श···' और जब मैंने उस बुत को ज़ोर से परे फेंका, तो मैं अपने ही ज़ोर के कारण जाग गयी।

३

मैंने देखा मेरे पास एक लड़की खड़ी हुई है। कोई बीस बरस की होगी। पतली, लंबी, और उसका एक-एक नक़्श जैसे किसी ने बड़ी मेहनत से गढ़ा हो। पर उसका रंग काला और चमकदार—जैसे किसी ने काले पत्थर को तराश कर एक बुत बनाया हो।

'यह कौन है?' मुझसे किसी ने पूछा।

'मेरी बेटी।' मैंने उत्तर दिया।

पूछने वाला कौन था, यह मुझे नहीं मालूम, पर उसने फिर चकित होकर पूछा, 'मैंने तेरे दो बच्चे देखे हैं, वे बड़े सुन्दर हैं। सुन्दर तो यह भी है, पर इसका रंग···'

'वे दोनों छोटे हैं, उनका रंग गोरा है। यह मेरी सबसे बड़ी बेटी है।··· तुम जानते हो पार्वती ने एक बार अपने शरीर के मैल को इकट्ठा करके एक पुत्र, गणेश, बना लिया था—मैंने अपने मन के सारे रोष को बटकर यह बेटी बनायी है···मेरी कला, मेरी कृति···'

४

मैं एक उजाड़ जगह से गुज़र रही थी। मुझे किसी की शक्ल नज़र नहीं आयी, लेकिन एक आवाज़ सुनाई पड़ी। कोई गा रहा था—'बुरा कीत्तोई साहिबां मेरा तरकश टंगयोई जंड।'[1]

---

१. साहिबां! तूने बुरा किया, मेरा तरकश पेड़ पर टांग दिया।

'तुम कौन हो ?' मैंने उस उजाड़ में खड़े होकर चारों ओर देखकर कहा।

'मैं बहादुर मिर्ज़ा हूं। साहिबां ने मेरे तीर छिपा दिए और मुझे लोगों के हाथों बे-आयी मौत मरवा दिया।'

मैंने फिर चारों ओर देखा, पर मुझे किसी की सूरत दिखाई नहीं दी। मैंने उत्तर दिया—'कभी-कभी कहानियां करवट बदल लेती हैं, आज एक मिर्ज़ा ने मेरे तीर छिपा दिए हैं, और मुझे, एक बहादुर साहिबां को, बे-आयी मौत मरवा दिया है।'

५

बादल बड़े ज़ोर से गरजे। सारा आसमान कांप उठा। और फिर मेरे दाहिने हाथ पर बिजली गिर पड़ी।

मेरे सारे शरीर को एक सख़्त ज़ोर का झटका लगा, और फिर मैंने संभल-कर अपने हाथ को हिलाकर देखा। हाथ बिलकुल ठीक था, केवल एक जगह से थोड़ा लहू बह रहा था, मानो एक खरोंच आ गयी हो।

दूसरी बार फिर बिजली कड़की और मेरे उसी हाथ पर गिर पड़ी। फिर एक सख़्त झटका लगा और मैंने जब हाथ को हिलाकर देखा तो वह बिलकुल साबूत था, केवल एक जगह ऐसा था मानो मामूली-सी रगड़ लग गयी हो।

तीसरी बार फिर आसमान दो टुकड़े हो गया और मेरे उसी हाथ पर बिजली गिर पड़ी। सख़्त झटका लगा, पर उसके बाद जब मैंने हाथ को हिलाया, हाथ हिलता अवश्य था, पर एक उंगली टेढ़ी हो गयी थी। मैंने अपने दूसरे हाथ से उस उंगली को दबाया, बार-बार दबाया, तो वह सीधी हो गयी, अपनी जगह आ गयी—मैंने अपने हाथ में क़लम पकड़कर देखा, मेरा हाथ बिलकुल ठीक था, मेरा क़लम अभी भी लिख रहा था।

इस समय मेरे मन की हालत बॉदलेअर पर के मन-जैसी थी, जब उसने 'सुन्दरता की विरद' लिखी थी।

तुम ऊंचे आसमान से उतरी हो
या गहरे पाताल से निकली हो ?
तुम्हारी दृष्टि, निरी शराब,
दैत्यमय भी, देवमय भी।

तुम्हारी आंखों में
सांझ भी, भोर भी।
तुम्हारी सुगंध, जैसे सांझ की आंधी,

तुम्हारे होंठ, दारू की एक घूंट
तुम्हारा मुख एक जाम···

तुम किसी खोह खन्दक़ में से उभरी हो
या तारों से उतरी हो ?
तुम एक हाथ से खुशी बीजती हो
दूसरे से तबाही···
तुम्हारे गहनों की छटा कितनी भयानक !
तुम्हारा आलिंगन
जैसे कोई क़ब्र में उतरता जाए···

इसी वर्ष के आरंभ में २६ जनवरी के गणतंत्र दिवस पर भारत सरकार की ओर से मैं नेपाल गयी थी, पर मन की बड़ी उखड़ी हुई दशा थी, और वहां से जो पत्र इमरोज़ को लिखे थे वे यह थे—

······!

कल नेपाल ने मेरे उस क़लम का सत्कार किया जिससे मैंने तुम्हारे लिए मुहब्बत के गीत लिखे। इसलिए मुझे जितने फूल मिले मैंने सारे तुम्हारी याद पर चढ़ा दिए।

'हिजर दी इस रात विच कुझ रोशनी आंवदी पई'[१]—मेरी इस कविता में तुम्हारी याद की बत्ती जल रही थी। रात साढ़े ग्यारह बजे तक इस रोशनी का ज़िक्र होता रहा। पास कितनी ही नेपाली, हिन्दी और बंगाली कविताएं जल रही थीं। एक फ़ारसी का शेर था—'रेगिस्तान में हम लोग धूप से चमकती हुई रेत को पानी समझकर दौड़ते हैं, भुलावा खाते हैं, तड़पते हैं।

पर लोग कहते हैं रेत रेत है, पानी नहीं बन सकती। और कुछ सयाने लोग उस रेत को पानी समझने की ग़लती नहीं करते। वे लोग सयाने होंगे, पर मैं कहता हूं, जो लोग रेत को पानी समझने की ग़लती नहीं करते, उनकी प्यास में ज़रूर कोई कसर होगी।'—सच मेरे छलावे ! मेरे सयानेपन में कोई कसर हो सकती है, पर मेरी प्यास में कोई कसर नहीं···

२७ जनवरी, १९६०

---

१. हिज्र की इस रात में कुछ रोशनी-सी आ रही··

……!

'राही ! तुम मुझे संध्या वेला में क्यों मिले ?
ज़िन्दगी का सफ़र खत्म होने वाला है। तुम्हें मिलना था तो ज़िन्दगी की दोपहर के समय मिलते, उस दोपहर का सेंक तो देख लेते'— काठमांडू में किसी ने यह हिन्दी कविता पढ़ी थी। हर व्यक्ति की पीड़ा उसकी अपनी होती है, पर कई वार इन पीड़ाओं की आकृतियां मिल जाती हैं। यह मेरी प्रतीक्षा तुम्हारे शहर की ज़ालिम दीवारों से टकराकर सदा घायल होती रही है। पहले भी चौदह वर्ष (राम-वनवास की अवधि) इसी तरह बीत गए, और लगता है मेरी ज़िन्दगी के बाक़ी वर्ष भी अपनी उसी पंक्ति में जा मिलेंगे…
१ फरवरी, १९६०

१९६१

इस वर्ष के आरम्भ में मेरी जो दशा थी उसे उस समय इन शब्दों में लिखा था—

हिन्दू धर्म के अनुसार जीवन के चार पड़ाव होते हैं, चार वर्ण, चार आश्रम। इनके संबंध में मुझे बहुत जानकारी नहीं है, पर जीवन के सफ़र में मैंने अपनी मानसिक अवस्था के चार पड़ाव अवश्य देखे हैं, और इनके संबंध में कुछ विस्तार से कह सकती हूं—

पहला पड़ाव था अचेतनता; यह बाल-बुद्धि के समान थी, जिसे हर वस्तु एक अचंभा लगती है। जिसे छोटी से छोटी वस्तु में बड़ी से बड़ी दिलचस्पी पैदा हो जाती है, और जो पल में विलख उठती है और पल में हर्षित हो जाती है।

दूसरा पड़ाव था चेतनता। यह एक भरपूर अंगों वाली, उच्छृंखल जवानी के समान थी, जिसका रोष बड़ा प्रचंड होता है, बड़ा रक्तिम, जो जीवन के ग़लत मूल्यों से जब रूठ जाती है, मनने में नहीं आती और जो एक सर्प के समान नफ़रत को मणि समझकर अपने मस्तिष्क में संभाले रखती है।

तीसरा पड़ाव था दिलेरी। वर्तमान को उधेड़ने वाली और भविष्य को सीने वाली दिलेरी। सपनों को ताश के पत्तों की भांति मिलाकर और बांटकर कोई खेल खेलने वाली दिलेरी,

जिसकी कोई भी हार शाश्वत हार नहीं होती, जिसके पत्ते फिर से मिलाए जा सकते हैं और जीत की आशा फिर बांधी जा सकती है।

और अब चौथा पड़ाव है अकेलापन।

तीन-चार वर्ष पूर्व जब वियतनाम के प्रेसिडेंट हो ची मिन्ह दिल्ली आये थे तो एक मुलाक़ात में उन्होंने मेरा माथा चूमकर कहा था—'हम दोनों दुनिया के ग़लत मूल्यों से लड़ रहे हैं—मैं तलवार से, तुम क़लम से।' और हो ची मिन्ह के व्यक्तित्व का मुझ पर ऐसा प्रभाव पड़ा था कि उनके जाने के बाद मैंने एक कविता लिखी जो वियतनाम में २६ मई, १९५८ के अखबार 'न्हान दान' में छपी थी, पर यह नहीं मालूम कि वह हो ची मिन्ह की नज़र से गुज़री या नहीं।

फिर दिल्ली रेडियो के लिए जब 'विश्व के कुछ लोकगीत' अनुवाद करके एक धारावाहिक क्रम में प्रस्तुत किए तो उन्हें पुस्तक-रूप में प्रकाशित करते समय वह पुस्तक 'आशमा' हो ची मिन्ह के शब्द दोहराते हुए उन्हें ही अर्पण कर दी थी। १ मार्च, १९६१ थी जब वियतराम से मुझे हो ची मिन्ह का तार आया—I send you my friendliest admiration and kindest greetings'—तो मन की दशा कुछ बदली। साथ ही एक अंग्रेजी फ़िल्म याद आयी जिसमें महारानी एलिज़ाबेथ जिस नवयुवक से मन ही मन प्यार करती है उसे जब समुद्री जहाज़ देकर एक काम सौंपती है तो दूर से दूरबीन लगाकर जाते हुए जहाज़ को देखकर परेशान हो जाती है। देखती है कि नौजवान की प्रेमिका भी जहाज़ पर उसके साथ है। वे दोनों डैक पर खड़े हैं, उस समय महारानी को परेशान देखकर उसका एक शुभचिन्तक कहता है, 'मैडम ! लुक ए बिट हायर'—ऊपर, उस नवयुवक और उसकी प्रेमिका के सिरों से ऊपर, महारानी के राज्य का झंडा लहरा रहा था।

और मैं अपने आप से स्वयं ही कहती—'अमृता ! लुक ए बिट हायर !' और मैं ज़िन्दगी की सारी हारों और परेशानियों से ऊपर देखने की कोशिश करने लगी—जहां मेरी कृति थी, मेरी कविताएं, मेरी कहानियां, मेरे उपन्यास···

उस वर्ष ज़िन्दगी ने भी मेरी मदद की, मेरी नज़र ऊपर की। मार्च में ही मास्को की राइटर्स यूनियन की ओर से बुलावा मिला, और उज़बेक कवयित्री ज़ुल्फ़िया खानम का पत्र कि ताशकंद में मैं उसके घर उसकी मेहमान रहूं। यह सारा श्रेय अपने रूसी दोस्तों को देती हूं कि उन्होंने मेरे मन के बड़े नाज़ुक समय में मुझे यह बुलावा देकर मुझे उदासी की गहरी यंत्रणा से निकाल लिया। मैं २३ अप्रैल को ताशकंद चली गयी। मेरी उस समय की, १९६१ की, डायरी में कई प्यारे पलों की यादें अंकित हैं—

ज़ुल्फ़िया के दिल का जाम मुहब्बत से भरा हुआ है, और दस्तरखान पर शीशे का प्याला अनार के रस से। दोनों लाल प्यालों से बारी-बारी घूंट भरते

हुए मैं उज़बेक पुस्तकों के पन्ने पलटती रही। मुझमें और पुस्तकों के बीच भाषा की दीवार है, पर एक पुस्तक की जिल्द पर एक प्यारी लड़की की तसवीर है जिसकी आंख में एक आंसू लटका हुआ है। लगा, वह आंसू भाषा की दीवार फांदकर मेरे आंचल में आ गिरा। मैंने कहा—'ज़ुल्फ़िया! इन आंसुओं और औरत की आंखों का न जाने क्या रिश्ता है, कोई मुल्क हो यह रिश्ता बना ही रहता है···'

ज़ुल्फ़िया ने कहा, 'जब दो मन इस रिश्ते को समझ लेते हैं, तब—उस समझ की बलिहारी—उनमें भी एक अटूट रिश्ता हो जाता है। मुझे लगता है, अमृता और ज़ुल्फ़िया भी जैसे एक औरत के दो नाम हैं···' और ज़ुल्फ़िया ने मेरे लिए उन्नीसवीं शताब्दी की उज़बेक कवयित्री नादिरा की कविताएं पढ़ीं, और हम कितनी ही देर तक नादिरा और महजूना के काव्य में डूब रहे···

आज समरक़ंद में एक कवि आरिफ़ ने 'लाला' के दो फूल लाकर हम दोनों को दिए। दोनों का रंग लाल, और एक-सी सुगंध थी, पर मैंने और ज़ुल्फ़िया ने आपस में वे फूल बदल लिये, जैसे मेरे देश में दो सहेलियां अपनी चुनरियां बदल लेती हैं···

ज़ुल्फ़िया कहने लगी, 'दो फूल, पर एक ख़ुशबू। दो देश, दो भाषाएं, दो दिल, पर एक दोस्ती···'

फिर कुछ पल बाद ज़ुल्फ़िया ने कहा, 'पर इन फूलों में दर्द का दाग़ नहीं है, हमारे दिलों में दर्द के दाग़ हैं···'

मुझे नादिरा का शेर याद आया, जिसमें वह बुलबुल से कहती है कि अगर तेरे गले के गीत चुक गए हैं तो इस नदिरा के क़लाम से फ़रियाद ले जा, और मैंने कहा, 'मैं लाला फूल से कहती हूं कि अगर तुझे अपने दिल के लिए दर्द के दाग़ नहीं मिले तो मुझसे या ज़ुल्फ़िया से कुछ दाग़ उधार ले जा!'

ज़ुल्फ़िया को कुछ याद आ गया। कहने लगी, 'हां, लाला के ऐसे फूल भी होते हैं जिनकी छाती में काले दाग़ होते हैं। चलो, खेतों में वे फूल ढूंढें!'

फिर मैं और ज़ुल्फ़िया खेतों की मेंड़-मेंड़ चलते हुए वे दाग़दार फूल ढूंढते रहे···

नबी जान, मेरा उज़बेक दुभाषिया, साथ था। वह लाला का एक खास फूल खोज कर ले आया, और मुझसे कहने लगा, 'इस फूल की छाती में हिज्र के काले दाग़ तो नहीं हैं, पर रोशनी के सिल्की दाग़ ज़रूर हैं।'

फूल की पंखुड़ियों में छिपे हुए सचमुच सिल्की रंग के निशान थे। मैंने उसका शुक्रिया अदा किया और ज़ुल्फ़िया से कहा, 'ये दाग़ शायद इसलिए रोशन हैं क्योंकि इनमें याद के चिराग़ जल रहे हैं···'

ज़ुल्फ़िया मुसकराई, कहने लगी, 'अमृता! क्या यह यादें हमारी अपनी ही

करामात नहीं हैं ? नहीं तो ये मर्द···'

और हम मर्दों की बात को बीच में ही छोड़कर अपनी कविताओं, अपनी करामातों की बातें करते रहे···

ताशकंद में आजकल हिन्दुस्तान से उर्दू कवि अली सरदार जाफ़री भी आए हुए हैं। आज अचानक मुलाक़ात हो गयी तो ज़ुल्फ़िया ने उन्हें अपने घर दावत पर बुला लिया। दावत में एक 'टोस्ट' पेश करते हुए ज़ुल्फ़िया ने कहा, 'हमारे देश में छोटी लड़की को 'ख़ान' और बड़ी को 'ख़ानम' कहते हैं, सो अमृता का नाम बनता है अमृता ख़ानम। अगर हम अमृता लफ़्ज़ का उज़बेक भाषा में अनुवाद करें तो बनता है उलमस। सो मैं उलमस ख़ानम के नाम पर 'टोस्ट' पेश करती हूं।'

जवाब में अली सरदार जाफ़री ने 'ज़ुल्फ़' शब्द का अनुवाद हिन्दी में किया 'अलक' और ज़ुल्फ़िया के नाम का भारतीकरण करके 'टोस्ट' पेश किया 'अलका कुमारी के नाम'!

टोस्ट पेश करने की मेरी बारी आयी, तो मैंने एक कविता की दो पंक्तियां पढ़ीं :[1]

'चिरां विछुन्नी कलम जिस तरहां घुटके काग़ज़ दे गल लग्गी।
भेत इशक़ दा खुलदा जावे···
इक्क सतर पंजाबी दे विच, इक्क सतर उज़बेक सुणी वे,
फेर काफ़िया मिलदा जावे···'

उज़बेकिस्तान की एक वादी का नाम ख़ाबीदा हसीना हुआ करता था, सोयी हुई सुन्दरी, पर अब जब वह समाजवादी राज्य के बाद कामों से ब्याही गयी है तो उसका नाम फ़रग़ाना वादी हो गया है। यहां रेशम की मिलें हैं। लोग कहते हैं—'एक वर्ष में यह वादी जितना रेशम बुनती है, अगर उसका एक सिरा धरती पर रखें तो दूसरा चांद तक पहुंच जाएगा···' इन रेशम की मिलों की डायरेक्टर औरतें हैं, उन्होंने अपनी मिलें दिखायीं, मुझे रंगीन रेशम का एक कपड़ा सौगात दिया, और मुझसे संदेशा मांगा। कल पहली मई है, विश्व भर के मज़दूरों का

---

१. चिरकाल से बिछुड़ी हुई कलम जिस तरह कसकर काग़ज़ के गले लगी है
और इश्क़ का राज़ खुलता जा रहा है
एक पंक्ति पंजाबी में है, और एक पंक्ति उज़बेक में
फिर भी काफ़िया मिलता जा रहा है।

दिन—सो, दो पंक्तियों की एक कविता में संदेशा दिया :[1]

'कुड़िये रेशम कत्तदीए ?
मई महीना पूरन आया, लक्ख मुरादां तेरियां
कुड़िये सुपणे उणदीए !
पच्छी दे विच रख लै लख दुआवां मेरियां···'

एना ख़ान ने दस्तरख़ान पर कोन्याक, शहद और अनार का रस रखकर मुझसे पूछा, 'बताओ, मेरी मेहमान ! मैं तुम्हारे लिए क्या गाऊं ?'

मैंने कहा, 'एना ! अपने देश का वह गीत गाओ, जो कोन्याक जैसा तल्ख़ हो, शहद जैसा मीठा, और अनार के रस जैसा लाल···'

वह हंसने लगी—'अच्छा, और भेड़ के भुने हुए मांस जैसा आशिक़ाना गीत !'

उसने और लाला ख़ानम ने आज बहुत प्यारे गीत गाए। अन्त में लाला ख़ानम ने यह भी गाया—'यह हमारे माथे का नसीब, कि हमने तुझे ढूंढ लिया, आज तू हमारे देश की मेहमान···'

इस दस्तरख़ान के लिए शुक्रिया अदा करते हुए मेरे दिल की तहें भी उनके प्यार से भीग गयीं। कहा, 'कभी मैंने एक गीत लिखा था कि ज़िन्दगी मुझे अपने घर बुलाकर मेहमाननवाजी करना भूल गयी, पर आज मैं अपना यह शिकवा वापस लेती हूं···'

आज ताशकंद से स्तालिनाबाद आयी हूं। ज़ुल्फ़िया साथ नहीं आ सकी, अकेली आयी हूं। हवाई अड्डे पर कितने ही ताजिक लेखक आए हुए हैं, उनमें ताजिकिस्तान के सबसे बड़े कवि मिर्ज़ा तुर्सनज़ादे भी हैं···

उनसे मिली तो मैंने कहा, 'महान ताजिक शायर को मेरा सलाम ! आपके लिए लाए हुए एक और सलाम की मैं क़ासिद भी हूं, वह सलाम ज़ुल्फ़िया का है। हमारे उर्दू शायर फ़ैज़ अहमद फ़ैज़ के शब्दों में 'शायर सलाम लिखता है तेरे हुस्न के नाम !'

तो मिर्ज़ा तुर्सनज़ादे बहुत हंसे, 'एक सलाम ज़ुल्फ़िया का, दूसरा फ़ैज़ के लफ़्ज़ों में, तीसरा ऐसे क़ासिद के हाथ, मेरा हाल क्या होगा ?'

शहर से बीस मील दूर पहाड़ के दामन में एक नदी के किनारे लेखक-गृह बने

१· रेशम बुनने वाली दोशीज़ा !
मई का महीना तेरी लाखों मुरादें पूरी करने के लिए आया है।
सपने बुनने वाली सुन्दरी !
अपनी डलिया में मेरी लाखों दुआएं रख लो !

हुए हैं। इस नदी का नाम है 'वरज़-आव' (नाचता हुआ पानी)। यहां आज ताजिक लेखकों ने मुझे रात के खाने की दावत दी है। अमन के, दोस्ती के, और क़लमों की अमीरी के नाम जाम भरते हुए, और 'टोस्ट' देते हुए—सबने बारी-बारी बहुत प्यारी कविताएं पढ़ीं। फिर अचानक नन्ही-नन्ही बूंदें बरसने लगीं तो मिर्ज़ा तुर्सनज़ादे ने कहा, 'आज हमने मिट्टी में दो देशों की दोस्ती का बीज बोया है, सो आसमान पानी देने आया है···'

एक कवि ने पूछा—'आपके देश में, सुना है, एक आशिक़ों का दरिया है, उसका नाम क्या है?'

मैंने बताया, 'चिनाब' और कहा—'आपके देश में वरज़-आब! सो, देख लीजिए हमारे दरियाओं का क़ाफ़िया भी मिलता है···'

अज़रबैजान की राजधानी बाकू में भी बड़े अच्छे लोग मिले, विशेषकर वहां की लेखिकाएं, निगार ख़ानम, और लगभग पचीस पुस्तकों की लेखिका मिखारद ख़ानम दिलबाज़ी, और ईरानी कवयित्री मदीना गुलगुन। उन तीनों में मैं चौथी एक सहेली की भांति हिल-मिल गयी तो अपनी कविताएं पढ़ते हुए हमने दूर उज़बेकिस्तान में बैठी ज़ुल्फ़िया को भी याद किया। उसकी एक कविता पढ़ी, तो वहां के विख्यात कवि रसूल रज़ा ने जो 'टोस्ट' पेश किया, वह अभी तक मेरी डायरी में लिखा हुआ है—'यह तो पांच शायर औरतें मिल गयी हैं, पांच पानियों की तरह, और यहां अज़रबैजान की राजधानी बाकू में पूरा पंजाब बन गया। सो, मैं पंजाब की सलामती के लिए जाम पीता हूं···'

इसी महफ़िल में बारहवीं शताब्दी की एक अज़री कवयित्री महसती गंजवी का कलाम भी पढ़ा गया, और तब मैंने इस महफ़िल को 'आठ शताब्दियों की महफ़िल' कहकर कहा—'कभी मैंने एक कविता लिखी थी : मिल गयी थी इसमें एक बूंद तेरे इश्क़ की, इसलिए मैंने उम्र की सारी कड़वाहट पी ली, पर आज इस महफ़िल में बैठे हुए मुझे लग रहा है कि मेरी उम्र के प्याले में इंसानी प्यार की बहुत-सी बूंदें मिल गयी हैं, और उम्र का प्याला मीठा हो गया है।'

सफ़र की डायरी

गंगाजल से लेकर वोडका तक यह सफ़रनामा है मेरी प्यास का। इस मन के सफ़र का ज़िक्र करते हुए कई देशों के सफ़र का ज़िक्र भी उसमें शामिल है। पर इन सुंदर स्मृतियों का आरंभ जिस दिन हुआ था वह दिन मेरे उदास दिनों की एक

भयानक स्मृति है, जैसे भोर होने से पहले रात और काली हो जाती है। उन दिनों मैं दिल्ली रेडियो में नौकरी करती थी। एक शाम दफ़्तर के कमरे में बैठी हुई थी कि सज्जाद ज़हीर मिलने आए। कुछ देर दुविधा में चुप रहे, फिर संकोच भरे शब्दों में कहने लगे, 'भारतीय लेखकों का एक डेलीगेशन सोवियत रूस जा रहा है। मैं चाहता हूं आप भी इस डेलीगेशन में हों। पर कल की मीटिंग में किसी भाषा के किसी लेखक ने आपके नाम पर एतराज़ नहीं किया, पर पंजाबी लेखकों ने सख्त एतराज़ किया है···' और उन्होंने और भी संकोच भरे शब्दों में बताया, 'वे कहते हैं, अगर अमृता डेलीगेशन में होगी तो हमारी पत्नियां हमें डेलीगेशन के साथ नहीं जाने देंगी···मैं अजीब मुश्किल में पड़ गया हूं।'

इस घटना को मैंने बाद में 'दिल्ली की गलियां' उपन्यास में लिखा था। उसमें सज्जाद जहीर का नाम राजनारायण लिखा था। और उस दिन जब सज्जाद ज़हीर ने अपनी यह मुश्किल बताकर कहा कि अगर मैं उनकी कमेटी के नाम एक चिट्ठी लिख दूं कि मैं डेलीगेशन में जाना चाहती हूं तो वह कमेटी की ऊपर के स्तर की मीटिंग में यह चिट्ठी रखकर मेरे जाने का फ़ैसला कर लेंगे, और तब मैंने उन्हें जवाब दिया था, 'आपने यूं ही आने की तकलीफ़ की। आपने यह कैसे सोच लिया कि मैं किसी डेलीगेशन के साथ जाना चाहूंगी। मैंने अपने मन में फ़ैसला किया हुआ है कि मैं जब भी किसी देश जाऊंगी, अकेली जाऊंगी। सोवियत रूस को अगर मेरी जरूरत होगी तो मुझे अकेली को बुलावा भेजेंगे, नहीं तो नहीं सही।'

१९६० में मास्को की राइटर्स यूनियन की ओर से मुझे अकेली को बुलावा आया और अप्रैल १९६१ में मैं ताशकंद, ताजिकिस्तान, मास्को और अज़रबैजान गयी।

फ़िर १९६६ में बलगारिया ने मुझे अकेली को बुलावा दिया था, और मैं बलगारिया और मास्को गयी थी।

उसी वर्ष के अंत में जार्जिया के कवि शोता रुस्तावैली का आठ सौ साला जश्न मनाया गया था जिसके लिए मैं १९६६ में फिर मास्को, जार्जिया और आर्मीनिया गयी थी—अकेली।

१९६७ में हमारी सरकार ने कल्चरल एक्सचेंज में मुझे यूगोस्लाविया, हंगरी और रोमानिया भेजा था, हर मुल्क में तीन-तीन हफ़्ते के लिए। और वहां बलगारिया ने अपने खर्च पर मुझे अपने देश बुला लिया था, और वेस्ट जर्मनी ने अपने खर्च पर अपने देश—और वापसी में तेहरान ने कुछ दिनों का बुलावा दे दिया था।

१९६९ में नेपाल में अपनी इंडियन एम्बेसी के निमंत्रण पर वहां गयी थी। और १९७२ में यूगोस्लाविया की विशेष मांग पर हमारी भारतीय सरकार ने

कल्चरल एक्सचेंज के सिलसिले में मुझे फिर तीन देशों में तीन-तीन हफ़्ते के लिए भेजा था—यूगोस्लाविया, चेकोस्लोवाकिया और फ्रांस, जहां से अपने खर्च पर मैं लंदन और इटली भी गयी थी। वापसी पर ईजिप्ट ने काहिरा में एक हफ़्ते का इनविटेशन दे दिया, सो लौटते हुए वहां भी गयी।

और उसके बाद १९७३ में विश्व शांति कांग्रेस के अवसर पर मास्को गयी थी।

मुझे डायरी लिखने की आदत नहीं है लेकिन सफ़र में ज़रूर लिखती हूं। उन दिनों की कई यादें मेरे सामने मेरी डायरी के पन्नों में अंकित हैं :

अजीब अकेलेपन का एहसास है। हवाई जहाज़ की खिड़की से बाहर देखते हुए लगता है जैसे किसी ने आसमान को फाड़कर उसके दो भाग कर दिए हों। प्रतीत होता है—फटे हुए आसमान का एक भाग मैंने नीचे बिछा लिया है, दूसरा अपने ऊपर ओढ़ लिया है···मास्को पहुंचने में अभी दो घंटे बाक़ी हैं। पर खयालों के अकेलेपन से चलकर कहीं पहुंचने में अभी मालूम नहीं कितना समय बाक़ी है···

२४ मई, १९६६

जहां तक दृष्टि जाती है, धरती पर बादलों के खेत उगे हुए दिखाई देते हैं। किसी जगह कहीं-कहीं जैसे बादलों के बीज कम पड़े हों, पर किसी जगह इतने घने हैं मानो बादलों की खेती बड़ी भरकर हुई हो, और इन खेतों पर से गुज़रता हुआ हवाई जहाज़ बादलों की कटाई करता हुआ प्रतीत होता है। और ऐसा लगता है जैसे गेहूं के खेतों में घूमते हुए गेहूं का दाना मुंह में डालकर कभी आदम बहिश्त से निकाला गया था, उसी तरह बादलों के खेतों में चलते हुए इन खेतों की सुगंध पीकर आज आदम धरती से निकाला गया है···

सोफ़िया के हवाई अड्डे पर बिलकुल अजनबी-सी खड़ी हूं। अचानक किसी ने लाल फूलों का एक गुच्छा हाथ में पकड़ा दिया है, और साथ ही पूछा है—'आप अमृता···?' और मैं लाल फूलों की उंगली पकड़ अजनबी चेहरों के शहर में चल दी हूं···

२५ मई, १९६६

अभी बल्गारिया के राष्ट्रीय नेता गेओर्गी दिमीत्रोफ़ को देखा है जिसकी रूह लोगों ने अपनी रूह में बसा ली है, और जिसका शरीर विज्ञान की सहायता से संभाल लिया गया है···उसे १९३३ में हिटलर ने क़ैद कर लिया था। उस समय लेखकों ने ही उसे बचाने की कोशिश की थी। फ्रांस के रोम्या रोलां ने उसके लिए क़लमी संघर्ष आरम्भ किया था, और उसने स्वतन्त्र होकर फिर १९४४ में बल्गारिया को फ़ासिस्ट शासन से स्वतन्त्र करवा लिया था। आज लोग मुझसे

कह रहे हैं—'यह हमारा दिमीत्रोफ़ आपके गांधी जैसा है, आपके नेहरू···'

२५ मई, १९६६.

अपने देश को जर्मन जुए से स्वतंत्र कराने वाले बल्गारियन सिपाहियों के बुत देख रही हूं। तीन किलोमीटर लम्बे और इतने ही चौड़े घेरे में बना हुआ बुतों का यह बाग़, स्वतन्त्रता का बाग़ कहलाता है···ये बुत गुलाम ज़िन्दगी की पीड़ाओं की और स्वतंत्र ज़िन्दगी के इश्क़ की मुंह-बोलती तसवीरें हैं···

२६ मई, १९६६

आज दोपहर विदेशों से सांस्कृतिक संबंधों के विभाग के वाइस प्रेसिडेंट प्रोफ़ेसर स्टेफ़ान स्टैन्टशेव से बहुत दिलचस्प मुलाक़ात हुई। बड़े गंभीर व्यक्ति हैं, इसलिए प्रेस के सेंसर के बारे में मैं बातें कर सकी। कहा, 'यह ठीक है कि लिखने-बोलने की स्वतंत्रता में जब-तक लिखने-बोलने वाले को उत्तरदायित्व की पहचान नहीं होती, तब बहुत कुछ ग़लत भी अस्तित्व में आ जाता है। पर इसके दूसरे पक्ष के बारे में सोच रही हूं कि अगर लिखत उत्तरदायित्वपूर्ण हो, पर भिन्न विचारों और भिन्न दृष्टिकोण के कारण भिन्न प्रकार की हो, तो उसका क्या होगा ?'

उनका उत्तर भी संभला हुआ है— 'हमारी संस्था दृष्टि को विशाल रखती है, नए प्रयोगों को परवान करती है, पर हो सकता है कि इसकी परिधि कुछ अच्छी कृतियों के लिए हानिकारक भी हो···पर बीमार साहित्य के अस्तित्व में आने की अपेक्षा यह कम हानिकारक है···'

जानती हूं, समय ठहर नहीं सकता, प्रश्न भी ठहर नहीं सकता। यह समाजवादी व्यवस्था में भी रास्ता खोजेगा। आज की बातचीत का वातावरण ख़ुशगवार है, मिस्टर स्टैन्टशेव कह रहे हैं, 'बुरे से श्रेष्ठ तक पहुंचे हैं, श्रेष्ठतम तक भी पहुंचेंगे···'

२७ मई, १९६६

आज बल्गारियन लेखकों की महफ़िल में कविताएं पढ़ीं। अर्थों की तह में उतर जाने के लिए भाषा की मजबूरी का बन्द दरवाज़ा कभी बल्गारियन, कभी रूसी और कभी फ्रेंच शब्द से खोला जा रहा था। वहां यूगोस्लाविया से आए हुए मेहमान कवि ज़्लात्को गोर्यान ने मेरी सबसे अधिक सहायता की। गोर्यान को फ्रेंच और जर्मन से अंग्रेज़ी में अनुवाद करने का बहुत अनुभव है, इसलिए आज उन्होंने मुझ पर बहुत प्यारा-सा एहसान किया है— 'मैं आपका सबसे अच्छा दोस्त हूं। आप यूगोस्लाविया के इस दोस्त को याद रखिएगा। इसने आपकी कविताओं के अर्थ करने में बहुत मदद की है···'

२९ मई, १९६६

आज शाम बल्गारिया के महान लेखकों, ईवान वाज़ोव, पीयो यावोरोव

और निकोला वापत्सारोव के ऐतिहासिक घरों को देखा। वापत्सारोव की कविताओं का पंजाबी अनुवाद मैंने, कई वर्ष हुए, किया था। वह मेरी अनुवाद की हुई पंजाबी पुस्तक भी उसके ऐतिहासिक घर में रखी हुई है। आज उसकी मेज़ को, उसके क़लम को, उसकी चाय की केतली को हाथों से छूआ तो आंखें भर-भर आयीं। लगा, कई वर्ष पहले जब मैंने उसकी कविताओं का अनुवाद किया था, तब से उसकी कई पंक्तियां जो कानों में पड़ी थीं और शायद कानों में ही अटककर रह गई थीं, वे आज कानों में सुलग उठी हैं—'कल यह ज़िन्दगी सयानी होगी···यह विश्वास मेरे मन में बैठा है और जो इस विश्वास को लग सके वह गोली कहीं नहीं···वह गोली कहीं नहीं···' ये पंक्तियां उसने १९४२ में फ़ासिस्टों के हाथों क़त्ल होने से कुछ समय पहले लिखी थीं। लगा, उस विश्वास को जिसे सृष्टि के आरंभ से गोली नहीं लग सकी...आज हाथ से छूकर देख रही हूं।

२९ मई, १९६६

सोफ़िया से १६० किलोमीटर दूर बतक गांव में उस चर्च के सामने खड़ी हूं जहां १८७६ में तुर्क शासन की दासता से मुक्त होने के लिए जूझते हुए गांव के दो हज़ार मर्द, औरतों और बच्चों ने शरण लेकर अपनी रक्षा का यत्न किया था। वह कुआं देख रही हूं जो चर्च के गिर्द घेरा पड़ जाने के कारण चर्च में घिरे हुए प्यासे लोगों ने अपने नाखूनों से खोद-खोदकर पानी निकालने का प्रयत्न किया था। यह सब-के-सब १७ मई को दुश्मन के हाथों मारे गए—दो हज़ार मनुष्यों की हड्डियां और खोपड़ियां शीशे के ढक्कनों के नीचे संभालकर रखी हुई दिखाई दे रही हैं। दीवारों में हमारे पंजाब के जलियां वाला बाग़ की दीवारों की भांति गोलियों के निशान पड़े हुए हैं···

३१ मई, १९६६

आज पलोवदिव क़स्बे में वह प्रिंटिंग मशीन देखी जिस पर दासता के विरूद्ध साहित्य छपा करता था, शासन की चोरी से। और वे बेड़ियां देखीं जिनसे मनुष्य बांधे जा सकते थे, पर समय नहीं···

कालोफ़ेर क़स्बे से गुजर रहे थे कि देखा—मानो सारा क़स्बा ही हाथों में फूल लिये एक स्थान पर इकट्ठा हो रहा हो। मालूम हुआ, आज २ जून है। १८७ में भी यही तारीख थी जब यहां का एक बहुत प्यारा कवि ख़रिस्तो बोतिफ़ क़त्ल किया गया था। एक दिन वह कविता लिखते-लिखते, अपनी बीस दिन की बच्ची को चूमकर, और हाथों में बन्दूक़ लेकर अपने देश की रक्षा के लिए विदा हो गया था। और जब क़त्ल हुआ तब उसकी आयु सत्ताईस वर्ष पांच महीने थी। उसके साथी उसके साथ मिलकर लड़ते और उसकी कविताएं गाते-गाते मारे गए··· मैंने आज रात को ख़रिस्तो बोतिफ़ की एक कविता का अनुवाद किया है

आज शाम को बहुत ज़ोर की वर्षा हुई। बाहर नहीं जा सकी, इसलिए होटल के कमरे में बैठकर बलगारिया का एक प्रसिद्ध उपन्यास 'अन्डर द योक' पढ़ती रही। हैरान हुई कि उपन्यास की मुख्य नायिका का नाम राधा है। कई जगह राधिका भी लिखा हुआ है। रात को खाने के समय अपने दुभाषिये से हंसी-हंसी में कहती रही—'राधा बलगारियन कैसे हो गई? कृष्ण तो भारत का था—शायद कृष्ण से मिलने के लिए राधा बलगारिया से ही गयी हो...'

१३ जून, १९६६

सवेरे एक अख़बार के सम्पादक ने मेरी कविता का अनुवाद किया—
चांद-सूरज दो दवातें कलम ने डोबा लिया
हुक्मरानो, दोस्तो!
गोलियां, बन्दूकें और ऐटम चलाने से पहले
यह ख़त पढ़ लीजिये...
साइन्सदानो, दोस्तो!
गोलियां, बन्दूकें और ऐटम बनाने से पहले
यह ख़त पढ़ लीजिये
सितारों के अक्षर और किरनों की भाषा
अगर पढ़नी नहीं आती
किसी आशिक अदीब से पढ़वा लवो
अपनी किसी महबूब से पढ़वा लवो...

आज दोपहर को जब विदेशों से सांस्कृतिक संबंधों के विभाग ने मुझे विदाई-भोज दिया, वहां कुछ कवि भी थे, बलगारिया की सबसे अधिक प्रसिद्ध कवयित्री ऐलिस्वेता बागरीआना भी, डोरा गाबे भी—और हमारी दोस्ती के जाम पेश किए गए। डोरा गाबे ने महिला कवि होने के नाते एक महिला प्रधानमंत्री का मान करते हुए इंदिरा गांधी के नाम पर 'टोस्ट' पेश किया, और तब मैंने मोरपंख की पंखियां सौगात देते हुए अमन के नाम पर कहा—'यह रंगीन पंख हमारे देश के राष्ट्रीय पक्षी के हैं। हम सारी दुनिया में अमन चाहते हैं, ताकि हमारा राष्ट्रीय पक्षी दुनिया के आंगन में नाच सके...'

१४ जून, १९६६

जैसे ही शाम पड़ती है मास्को यूनिवर्सिटी परी-महल की तरह झिलमिलाने लगती है। उसके ठीक सामने खड़े होकर, और उस ऊंची जगह से नीचे बहते हुए मास्को दरिया की ओर देखें तो दरिया की बांहों में लिपटे हुए शहर की

जगमगाहट दिखाई देती है। एक सुन्दर वास्तविकता ! युद्ध के खूनी दरियाओं को तैर कर, और भूख के मरुस्थलों को चीरकर पायी हुई वास्तविकता।

२५ सितम्बर, जार्जिया में वहां के एक प्यारे कवि शोता रुस्तावैली का आठ सौ साला जश्न मनाया जा रहा है। समय के अधिकारियों ने जब उसे देश-निकाला दिया था, वे क्या जानते थे कि समय के सागर में मल-मल नहाकर, उसकी कहानी एक जल-परी की तरह निकल आएगी···

तब देश में उसका नाम लेना भी जुर्म बन गया था, इसलिए लोगों ने उसकी रचनाओं को कंठस्थ कर लिया। आज जार्जिया के उन दो व्यक्तियों का सम्मान किया गया है जिन्हें रुस्तावैली का समस्त काव्य मुंह-जबानी याद है···

तबलिसी की एक ऊंची पहाड़ी पर एक जार्जियन औरत का बुत बना हुआ है जिसके एक हाथ में तलवार है और एक हाथ में अंगूर के रस का प्याला—तलवार दुश्मनों के लिए, और अंगूर के रस का प्याला देश-मित्रों की भेंट···

आज मैटेखी चर्च देखा जो छह शताब्दी तो चर्च रहा था, पर अठारहवीं शताब्दी में आक्रांताओं के हाथों बन्दीगृह बन गया था। मैक्सिम गोर्की ने भी यहां क़ैद काटी थी···

तबलिसी से १६० किलोमीटर दूर बारजो भी वैली की ओर जाते हुए रास्ते में गोरी कस्बा भी आया। यहां स्टालिन का जन्म-गृह देखा।

विश्व के प्रत्येक देश से लेखक आए हुए हैं। बारजोभी की शाम लेखक-मिलन के लिए रखी गई है। प्रत्येक देश के लेखक ने आज से बेहतर ज़िन्दगी की आशा में कुछ शब्द कहे, पर जब वियतनाम का कवि चे लिन विन उठा तो सब का मन भर आया। आज उसके शब्द थे—'हमारी कविता लहू के दरिया पार कर रही है। आज यह केवल हथियारों की बात करती है ताकि कभी यह फूलों की बात कर सके। हमारे सिपाही जब रणक्षेत्र में जाते हैं, लोग कविताएं लिखकर उनकी जेबों में डाल देते हैं। हम उन जेबों की कुशल-कामना करते हैं जिनमें कविताएं पड़ी हुई हैं। आज अगर हमने कविता को बचा लिया तो समझिये कि मनुष्य को बचा लिया···'

और अभी, मेरी आंखें भर आयी हैं। वियतनाम के इस कवि ने मेरे पास आकर कहा है—'आप हिन्दुस्तान से आयी हैं न ? आपका नाम अमृता है ?' मैं चकित हो गयी, तो उसने बताया—'वियतनाम से आते समय हमारे प्रसिद्ध कवि स्वन ज़ियाओ ने मुझसे कहा था कि अगर कोई औरत हिन्दुस्तान से आयी हुई होगी तो उसका नाम अमृता होगा, उसे मेरी याद देना···'

मन में एक प्रार्थना उठ रही है—काश, दुनिया की सारी सुन्दर कविताएं मिल जाएं और वियतनाम की रक्षा कर सकें···

आज आर्मीनिया की राजधानी यिरेवाम में उसके पुरातन हस्तलिखित लिपियों का संग्रहालय देखा। ये लोग सदा विश्व के अनेक भागों में बिखरे रहे। यहां तमिल भाषा में लिखे उनके इतिहास के पन्ने भी सुरक्षित रखे हुए हैं जो कभी इन्होंने दक्षिण भारत में बसने के समय लिखे थे···

आज तेरहवीं शताब्दी का एक गिरजाघर देख रही थी जो एक पहाड़ को शिखर की ओर से काट-तराशकर बनाया गया है। देखा—ऊंचे चबूतरे पर से एक छोटी-सी सीढ़ी पत्थरों की एक गुफा में जाती है। गुफा पर कुछ मोह आ गया, झिझकते हुए किसी से पूछा—'मैं इसके अन्दर जा सकती हूं?' वह स्थान जैसे मुझे अपनी ओर खींच रहा था, पर स्वयं ही मैंने झिझककर कहा—'शायद नहीं,' क्योंकि देखा—लोग उस चबूतरे को होंठों से चूम रहे थे, सो सोचा–शायद उस पर पैर रखकर आगे नहीं जाया जा सकता। पर मुझे उत्तर मिला—'उस गुफा में एक आला है, वहां दीया जलाकर हमारे लेखक, आक्रमणकारियों की चोरी से, समय का इतिहास लिखते थे। आप इस चबूतरे को पार करके, जितनी देर चाहें गुफा में बैठ सकती हैं···'

तबलिसी में बर्तानिया के एक लेखक ने मुझसे पूछा था—'आपको कभी किसी विशेष देश के लोगों से विशेष साझेदारी लगती है?' तो मैंने उत्तर दिया था, 'इस तरह मुझे किसी देश में कभी नहीं लगा, पर कई किताबों के कई पात्रों से लगने लगता है···'

आज यिरेवान के एक गिरजाघर की एक गुफा ने मेरे संग इस प्रकार अचानक मोह डाल लिया है, तो सोच रही हूं कि केवल किताबों के पात्र ही नहीं, कोई कोने-खुदरे भी ऐसे होते हैं जो अजनबी देशों में कुछ अपने लगने लगते हैं···

२ अक्तूबर, १९६६

मास्को से कोई दो सौ किलोमीटर का लम्बा रास्ता वृक्षों में लिपटा हुआ है। सुना हुआ था कि रूस के जंगलों का पतझड़ दर्शनीय होता है। आज देख रही हूं—पेड़ों के पत्ते सोने के चौड़े पत्तों के समान झूलते हुए लगते हैं। कई पेड़ों के तने बिलकुल सफ़ेद हैं, मानो चांदी के पेड़ों पर सोने के पत्ते उगे हुए हों···

यास्नाया पौलियाना में आज टॉल्स्टाय के घर में खड़ी थी, उस कमरे में जहां उसने 'वार एण्ड पीस' उपन्यास लिखा था। उसके शयन-कक्ष के पलंग के पास टॉल्स्टाय की एक सफ़ेद कमीज़ टंगी हुई है। पलंग की पट्टी पर मैं एक हाथ रखे खड़ी थी कि दाहिने हाथ की खिड़की में से हल्की-सी हवा आयी और उस टंगी कमीज़ की बांह हिलकर मेरी बांह से छू गई···

एक पल के लिए जैसे समय की सूइयां पीछे लौट गई—१९६६ से १९१० पर आ गई, और मैंने देखा—शरीर पर सफ़ेद क़मीज़ पहनकर वहां दीवार के

पास टॉल्स्टाय खड़े हुए हैं···

फिर लहू की हरकत ने शान्त होकर देखा, कमरे में कोई नहीं था, और बाएं हाथ की दीवार पर केवल एक सफ़ेद क़मीज़ टंगी हुई थी···

८ अक्तूबर, १९६६

'पोएट्री इज़ ए कन्ट्री विदाउट फ्रन्टियर्ज़' कहते हुए यूगोस्लाविया वाले प्रति वर्ष अगस्त के अन्त में आखरिद झील से दसियों कोसों की दूरी पर सतरुगा शहर में दरिया दरिम के किनारे पर कविता का मेला लगाते हैं। पहले दिन केवल मैसिडोनियन भाषा की कविताएं पढ़ी जाती हैं, और दूसरी रात सारी यूगोस्लाव भाषाओं और मेहमान भाषाओं के कवियों के लिए होती है। सब कवि दरिया के पुल पर खड़े होकर कविताएं पढ़ते हैं, और सुनने वाले दरिया के दोनों किनारों पर बैठकर सुनते हैं, बहुत से नावों में बैठकर भी। जलती हुई मशालों की, और बिजली की रोशनी दरिया में झिलमिलाती है, तो यह रात किसी परी-कथा के समान हो जाती है। कवि अपनी-अपनी भाषाओं में कविताएं पढ़ते हैं और उनके अनुवाद यहां के विख्यात अभिनेता पढ़ते हैं। जब किसी देश का कवि कविता-पाठ करता है, तब उस देश का झंडा लहराया जाता है। आज यहां कविता पढ़ना मेरे जीवन का बहुत प्यारा अनुभव है···यह सब तालियां हिन्दुस्तान के नाम पर हैं—कालिदास के देश के लिए, टैगोर के देश के लिए, नेहरू के देश के लिए···

२६ अगस्त, १९६७

कल आखरिद से स्कोपिया पहुंचने के लिए जिस कार का प्रबन्ध किया गया था, उसमें इथियोपिया का एक कवि अबरा जंबेरी भी था, और इथियोपिया का प्रिन्स महत्तेमा सेलासी भी। हम अधिकांश रास्ता सतरुगा में हुए कविता के मेले की बातें करते रहे, पर एक जगह रुककर बीअर का एक-एक गिलास पीते हुए इथियोपिया के प्रिन्स का मन छलक उठा, 'आप कवि लोग भाग्यशाली हैं वास्तविक संसार नहीं बसता तो कल्पना का संसार बसा लेते हैं···मैं बीस बरस वायलिन बजाता रहा, साज़ के तारों से मुझे इश्क़ है, पर युद्ध के दिनों में मेरे दाहिने हाथ में गोली लग गई थी, अब मैं वायलिन नहीं बजा सकता···संगीत मेरी छाती में जैसे जम गया है···"

इतिहास चुप है, मैं भी कल से चुप हूं—संगीत के आशिक़ हाथों को गोलियां क्यों लगती हैं, इसका उत्तर किसी के पास नहीं है···इस प्रश्न के सामने केवल ख़ामोशी की बन्द गली है···

३० अगस्त, १९६७

बेलग्रेड से कोई सौ मील दूर क्रागुयेवाच शहर के पहलू में खड़े हुए दूर तक एक हरा निर्जन दिखाई देता है। इस निर्जन में दो सफ़ेद पंख दिखाई देते हैं, कोई अठारह गज़ लम्बे और ज़मीन से लगभग दस गज़ ऊंचे। तब १९४१ था, अक्तूबर महीने की २१ तारीख़। एक स्कूल में कोई तीन सौ बच्चे अपना पाठ पढ़ रहे थे कि जर्मन फ़ौजों ने स्कूलों को घेर लिया और एक-एक बच्चे को, मास्टरों के साथ, गोलियों से बींध दिया···ये पत्थर के पंख उस उड़ान के स्मारक हैं जो उन तीन सौ बच्चों की छाती में भरी हुई थी···

उस दिन पूरे शहर की आबादी क़त्ल हुई थी—सात हज़ार व्यक्ति। आज पत्थर के दो बुत, एक पुरुष का और एक स्त्री का, उन सात हज़ार क़ब्रों के स्मारक हैं।

यहां खड़े हुए आज जो कुछ एक जीवित मनुष्य की छाती में गुज़रता है वह या तो यह है कि उसकी जीवित छाती में से मांस का एक टुकड़ा निकलकर इन बुतों में समा गया है, और या इन बुतों में से निकलकर पत्थर का एक टुकड़ा सदा के लिए उसकी छाती में उतर गया है···

३१ अगस्त, १९६७

हंगेरियन कवि विहार बेला ने मिलते ही कहा, 'कोई भी आक्रमणकारी जब धरती के किसी भाग पर पांव रखता है तो सबसे पहले वहां की पुस्तकों की अलमारियां कांपती हैं। पर जब कोई कवि किसी दूर धरती के भाग पर पांव रखता है तो सबसे पहले पुस्तकों की अलमारियां और बड़ी हो जाती हैं···'

'खुश आमदेद' के इन प्यारे शब्दों के बाद आज वह मशीन देखी जिस पर १५ मार्च, १८४८ को सान्डोर पेतोफ़ी की लिखी हुई वह विद्रोहपूर्ण कविता छपी थी जो अब यहां का राष्ट्रीय गीत है।

आज योबाज कारोय से हुई भेंट भी बहुत स्मरणीय है। स्तालिन की मृत्यु तक इस कवि की कोई पुस्तक नहीं छप सकी थी। यह चार वर्ष साइबेरिया में युद्ध-बन्दी रहा। १९४८ में रिहाई के समय इसकी जेबें टटोली गई तो उनमें से कविताएं निकलीं, जिसके कारण उसे एक वर्ष के लिए फिर जेल में डाल दिया गया···

आज बुदापेस्ट रेडियो से बोलने के लिए और हंगेरियन लेखकों की सभा में पढ़ने के लिए मैंने अपनी कविताएं चुनीं। खुश हूं कि मुझसे केवल समाजवादी कविता पढ़ने का आग्रह नहीं किया गया। वही कविताएं चुनी गई जो मैं चाहती थी। आज सान्डोर राकोश ने मेरी कविताएं अनुवाद की हैं···

लेखक यूनियन के कार्यालय में वहां के यशस्वी कवि गावोर गाराई से मिलते समय फ्रांस के उस कवि से अचानक भेंट हो गयी जो पिछले वर्ष जार्जिया में मिला

था, और उसने मेरी डायरी में लिखा था—'अगर कभी मैं अगले वर्ष पुनः पेरिस में मिल सकूं···'पर आज उसने पहली बार मेरी कविताएं पढ़ीं तो खुशी से बोल उठा, 'ख़ुदा का शुक्र है कि यह कविताएं—कविताएं हैं। मुझे डर था कि आप केवल समाजवादी कविताएं लिखती होंगी···' और इस बात पर केवल मैं ही नहीं बल्कि मेरे पास बैठे हुए हंगेरियन कवि भी खिलखिलाकर हंसते रहे···

एक कवयित्री कह रही है, 'पूरे दस वर्ष हमें ख़ामोशी की एक लम्बी गुफ़ा में से गुज़रना पड़ा। अब स्वीकृत मानों से हटकर लिखी हुई कविताओं का छपना संभव हो गया है···'

आज बुदापेस्ट से १२० किलोमीटर दक्षिण की ओर बालातोन झील का वह किनारा देखा जहां ६ नवम्बर, १९२६ को रवीन्द्रनाथ ठाकुर ने आकर एक वृक्ष का आरोपण किया था और एक कविता लिखी थी—

मैं जब इस धरती पर नहीं रहूंगा
तब भी मेरा यह वृक्ष
आपके वसन्त को नव-पल्लव देगा
और अपने रास्ते जाते सैलानियों से कहेगा
कि एक कवि ने इस धरती से प्यार किया था··

वृक्ष के निकट ही रवीन्द्रनाथ ठाकुर का बुत है, और बुत के निकट एक सफ़ेद पत्थर पर वे पंक्तियां खुदी हुई हैं, और तारीख पड़ी हुई है ८ नवम्बर, १९२६।

वृक्ष की एक टहनी से एक पत्ता तोड़कर देखती हूं···ऐसा प्रतीत होता है कि उसकी डंडी पर आज की तारीख़ पड़ी हुई है—८ सितम्बर, १९६७।

जिस कवि के नाम पर अब हंगरी का सबसे बड़ा पुरस्कार है 'आतिला योज़ेफ़ प्राइज़', उसकी कविताएं अनूदित करते हुए मैं उस रेलवे लाइन पर गयी, जहां उसने आज से तीस वर्ष पहले आत्मघात किया था···वह उस दौर में पैदा हुआ जब व्यक्तिगत स्वतंत्रता के 'गुनाह' के लिए कोई क्षमा नहीं थी···

आतिला की कविताएं बहुत प्यारी हैं—एक ही समय में उनमें ओज भी है और कोमलता भी। उसके अन्तिम दिनों की एक कविता की दो पंक्तियां हैं—

दूध के दांतों से तूने चट्टानों को तोड़ना चाहा
मूर्ख ! क्या सपने देखने के लिए कोई रात काफ़ी नहीं थी···

९-२२ सितम्बर, १९६७

आज रोमानिया में वह गिरजाघर देखा जहां रूसी कवि पुश्किन को चाहनेवाली ग्रीक युवती कालिप्सो की खोपड़ी रखी हुई है। रोमानिया का एक भाग ग्रीक लोगों से बसा हुआ था और जब १८३२ में यहां तुर्क अधिकारियों के विरुद्ध विद्रोह हुआ तब यह लड़की भी विद्रोहियों में थी और

रूस के दक्षिणी भाग में शरण ली तब उसकी पुश्किन से भेंट हुई थी। पर कालिप्सो एक ऐसी कविता थी जिसके लिए पुश्किन के पास काग़ज़ नहीं था, और वह निराश होकर वापस लौट आयी। गिरजा में औरतों के रहने की मनाही थी, इसलिए वह एक पुरुष-साधु के वेश में गिरजा के अन्दर रहने लगी। कहते हैं यह केवल उसकी मृत्यु के समय ज्ञात हुआ कि वह स्त्री थी··· १८४० में उसने अपने जीवन को अपने हाथों समाप्त करने के समय एक पत्र लिखा, और तकिये के पास रख दिया···

गिरजाघर की गुफा में खड़ी हूं, कानों में एक खड़का-सा सुनाई देता है, न जाने बाहर पतझड़ी-हवा से झूलते हुए वृक्षों के पत्तों का यह खड़का है या समय के आंचल में पड़ा हुआ कालिप्सो का पत्र हिल रहा है···

९ अक्तूबर, १९६७

आज मेहनत करने की अपनी आदत काम आयी। जिस देश में भी जाती हूं वहां की कम से कम दस श्रेष्ठ कविताएं और कुछ कहानियां अवश्य अनुवाद करती हूं, इसलिए उन देशों के लेखकों के संबंध में मुझे कुछ जानकारी हो जाती है। कल रोमानिया से बल्गारिया पहुंची तो मालूम हुआ कि आजकल हमारी प्रधानमंत्री बल्गारिया आयी हुई हैं। आज उनकी ओर से देश के प्रेसिडेंट को चाय की दावत थी, वहां इन्दिराजी ने अलग कमरे में बुलाकर जब मेरा प्रेसिडेंट से परिचय कराया तो बल्गारियन साहित्य के संबंध में मैं इतनी बातें कर सकी कि वह भी हैरान थे कि मुझे उनके देश की इतनी जानकारी कैसे है···

१५ अक्तूबर, १९६७

२१ अक्तूबर को यूगोस्लाविया के जिस शहर क्रागुयेवाच में जर्मन फ़ौजों ने सात हज़ार व्यक्ति एक ही दिन में क़त्ल किये थे, उसके नागरिकों का बुलावा था कि अक्तूबर में मैं फिर वहां आऊं और उस दिन उस भयानक कांड के बारे में लिखी हुई डीसांका मैक्सीमोविच की कविता का पंजाबी अनुवाद पढ़ूं। पर देश-देश घूमते हुए ढाई महीने हो गए हैं और इस निमंत्रण को किसी और वर्ष पर उठाकर मैं जर्मनी आ गयी हूं। विचित्र संयोग है कि आज वही तारीख़ है—२१ अक्तूबर। मन में एक बेचैनी-सी हुई कि जहां इतने व्यक्ति क़त्ल किए गए, मैं वहां जाने के बजाय वहां आ गयी हूं जहां की फ़ौजों ने उन्हें क़त्ल किया था···

पर आज फ्रैंकफ़र्ट में, यहां के प्रसिद्ध लेखक हाइनरिश बाउल को जर्मनी का गेउर्ग बउश्नर पुरस्कार मिलना था और मुझे इस संस्था की ओर से निमन्त्रण था, इसलिए एयरपोर्ट से सीधी यहां चली गयी। वहां हाइनरिश बाउल की जवाबी तक़रीर सुनी तो मन को कुछ चैन आया। उन्होंने कहा, "यहां आप लोग मुझे

मानव भावनाओं का अनुसरण करने के लिए सम्मानित कर रहे हैं, पर वह सम्मान स्वीकार करते हुए मुझे खुशी नहीं है—यहां से कुछ दूर वियतनाम पर बम गिर रहे हैं और मैं कुछ नहीं कर सकता हूं…"

फ्रैंकफ़र्ट में गेटे का घर देखा और स्टुटगार्ट में शिलर का…यहां के एक दार्शनिक ने कहा था, "जिस भाषा के लोगों ने संसार में इतनी जन-हत्या करवा दी है, उस भाषा में अब कोई कविता या कहानी नहीं लिखी जा सकती।" पर, सोच रही हूं, यह धरती दार्शनिकों की होती थी, और आज भी जहां दुःख की यह अनुभूति है, यह चेतनता, उस भाषा में कुछ भी रचा जा सकता है…

२६ अक्तूबर, १९६७

आज म्यूनिख में हूं—जहां हिटलर की ट्रायल हुई थी। शहर से बीस मील दूर एक कान्सेन्ट्रेशन कैम्प देखने गयी तो वहां एक जर्मन लड़की ने, जिसकी आंखें भर आयी थीं, अचानक मेरी बांह पकड़कर पूछा, "आपका क्या ख़याल है, हमारे लोगों ने यह जो कुछ किया था कभी हमें इसका फल भुगतना पड़ेगा?…"

आज यह वही देश है जिसके इस शहर में बड़े-बड़े पोस्टर लगे हुए देख रही हूं जिन पर लिखा हुआ है—'जो भी व्यक्ति वियतनाम में अमरीका की वर्तमान नीति का समर्थक है, उसकी हत्यारों में गणना है…'

२८ अक्तूबर, १९६७

आज दूसरी बार यूगोस्लाविया आना और सतरुगा में उसके विश्व कवि-सम्मेलन में भाग लेना, मेरे जीवन का एक और बहुत स्मरणीय दिन है।

बहुत सारे लेखकों के इंटरव्यू लिये गए हैं, और मुझसे पूछे गए प्रश्नों में एक प्रश्न यह था कि मेरे अनुसार स्वतंत्रता के क्या अर्थ हैं। उत्तर दिया, 'वह व्यवस्था जो आम साधारण व्यक्तियों को भी जीवन का अर्थ दे, पर जिसमें किसी का व्यक्तित्व न खो जाए…'

आज एक ऐतिहासिक गिरजाघर को काव्य-मंच बनाकर पाब्लो नरूदा की कविताओं की संध्या मनाई गयी…

२५-३० अगस्त, १९७२

वापसी पर मैसीडोनिया की राजधानी स्कोपिया में एक लोकगीत सुना, जिसमें भारत से लौटे हुए सिकन्दर की उस कुर्सी का उल्लेख है जो चन्दन की लकड़ी की बनी हुई थी। स्पष्ट है यह गीत यहां ग्रीस से आया होगा। मेरे पास चन्दन की लकड़ी की कुछ पेंसिलें थीं जो मैंने यहां के लेखकों को सौग़ात के तौर पर दीं तो वे पूछने लगे, 'क्या आपके देश में भी सिकन्दर के बारे में लोकगीत

हैं ?' उत्तर दिया, 'हमारे देश में तो वह आक्रामक था। क्या वह, क्या तुर्क, क्या मुग़ल, हमारे लोकगीतों में इनके बड़े उदास वर्णन मिलते हैं…'

यहां से याद आया कि समरक़ंद में मैंने भी ऐसी ही बात वहां के लोगों से पूछी थी कि आपका इज़्ज़त बेग जब हमारे देश आया और उसने एक सुन्दर कुम्हारन से प्रेम किया तो हमने उसके बारे में कई प्रकार के गीत लिखे। क्या आपके देश में भी उसके गीत हैं ?—तो वहां की एक प्यारी-सी औरत ने जवाब दिया, 'हमारे देश में तो वह बस एक अमीर सौदागर का बेटा था, और कुछ नहीं। प्रेमी तो वह आपके देश जाकर बना, सो गीत आपको ही लिखने थे, हम कैसे लिखते…'

किन देशों के लोग किन देशों में जाकर गीतों का विषय बन जाते हैं और अपने व्यक्तित्व का कौन-सा भाग कहां छोड़ आते हैं—बड़ा मनोरंजक इतिहास है। मेरी कहानियों में भी पंजाब के बाहर के अनेक पात्र हैं जो मिले और कहानियां लिखवा गए। जी करता है किसी दिन मैं इन कहानियों को इकट्ठा करके इनका एक संग्रह प्रकाशित करूं…

३१ अगस्त, १९७२

आज मोन्टीनीग्रो में पुश्किन का चित्र देखा। ज्ञात हुआ, पुश्किन जब सोलह वर्ष का था जिप्सियों की एक टोली में मिलकर यहां आया था। पर धरती के इस टुकड़े ने उसका मन ऐसा मोह लिया कि वह पांच वर्ष यहीं रहा। यह चित्र दिखाते हुए वहां के डायरेक्टर ने मुझसे पूछा, 'पुश्किन यहां पांच वर्ष रहा था, अमृताजी ! आप कितने समय रहेंगी ?'—तो मैं हंस पड़ी, कहा, 'सिर्फ़ बीस दिन। मेरा जिप्सी इन्स्टिंक्ट सिर्फ़ बीस दिन के लिए है…'

५ सितम्बर, १९७२

आज यूगोस्लाविया के परिशतिना शहर ने मेरी कविताओं की शाम मनायी। थियेटर के हॉल के बाहर भी और अन्दर भी भारत का नाम बड़े-बड़े अक्षरों में लिखा। कई भारतीय चित्रों से दीवारों को सजाया और भारतीय संगीत बजाकर यह शाम शुरू की। मेरी यूगोस्लाव दोस्त इलियाना चुरा ने लाल रेशम की साड़ी पहनी और स्टेज पर जाकर मेरा परिचय दिया। हर कविता मैं पहले अपनी भाषा में पढ़ती, फिर वहां के फ़िल्म अभिनेता बारी-बारी उसका अनुवाद सर्व और अलबानियन भाषाओं में पढ़ते।

यहां संयोग से एक अमरीकन कवि हर्बर्ट कूनर भी मौजूद थे जिन्हें वह इस शाम में सीधे निमन्त्रित नहीं कर सकते थे। पर परिशतिना की एक प्रथा है कि मुख्य अतिथि निजी तौर पर किसी मेहमान को बुला सकता है। सो, मैंने स्टेज

पर खड़े होकर हर्बर्ट कूनर से कविता पढ़ने के लिए निवेदन किया। समारोह के अन्त में दो छोटी भारतीय फ़िल्में दिखायी गयीं—एक खजुराहो के बारे में, और दूसरी भारतीय जीवन के कुछ पहलुओं के बारे में—'ऑन द मून'।

इस सन्ध्या ने आज मेरे मन को धरती के प्यारे लोगों के एहसास से भर दिया है···

७ सितम्बर, १९७२

यूं तो हर देश एक कविता के समान होता है जिसके कुछ अक्षर सुनहरी रंग के हो जाते हैं और उसका मान बन जाते हैं, कुछ अक्षर लाल सुर्ख़ हो जाते हैं—उनकी अपनी या परायों की बन्दूकों से लहूलुहान होकर और कुछ अक्षर उसकी हरियाली की भांति सदा हरे रहते हैं—जिनमें से उसके भविष्य के कोमल पत्ते नित्य उगते हैं···और इस प्रकार हर देश एक अधूरी कविता के समान होता है। पर इटली की धरती का स्पर्श किया तो लगा कि जैसे एक कविता के पूरे या अधूरे होने की क्रिया को बहुत प्रत्यक्ष देख रही हूं—इस धरती के चप्पे-चप्पे पर संगमरमर के बुत ऐसे प्रतीत होते हैं जैसे इस धरती में ही बुत उगते हों। लगा—कविता के जो अक्षर कानों में पड़े, वे संगमरमर बन गए, और जो अक्षर धरती में बीज के समान पड़ गए वे माइकल एंजेलो के और अन्य कलाकारों के हाथ बनकर धरती में से उग आए। और इन दूध जैसे सफ़ेद अक्षरों के इतिहास के साथ-साथ रक्तरंजित अक्षरों का इतिहास भी बहुत लम्बा है—जब स्पार्टिक्स जैसे हज़ारों ग़ुलाम, रोमन शासकों के मनोरंजन के लिए एक-दूसरे की जान से खेलते थे···

और इस कविता के अक्षर पीले भी हैं—भयभीत—पोप के वैटीकन शहर की ऊंची दीवारों से टकराते और गुच्छा-सा होकर स्वयं ही अपने अंगों में सिमट जाते हैं। इटली की धरती होनी की धरती है—जहां अनेक अक्षर उसके हरे जंगलों की भांति भविष्य की नवीन कोंपलें भी बन गए हैं—और कई अक्षर सदा के लिए खो गए हैं—शायद पहली बार तब खोए थे जब 'डिवाइन कॉमेडी' वाला डांटे देश-निष्कासित हुआ था और उसके साथ वह भी निष्कासित हो गये थे···

और इस कविता के अक्षर कुछ वे भी हैं जिन्हें कोई सैलानी नहीं पढ़ सकता—यह केवल लियोनार्दो दा विंची की मोनालीज़ा की भांति मुसकराते हैं—रहस्यपूर्ण मुसकान···

१०-१६ नवम्बर, १९७२

क़ाहिरा आना मेरे लिए एक विलक्षण अनुभव है। एक ऐसी रेखा पर खड़ी हूं जिसके एक ओर क़ाहिरा की हरियाली है और दूसरी ओर एकदम रेगिस्तान।

रेगिस्तान में वसने वाले वे पिरामिड हैं जिन्होंने पांच हज़ार वर्ष के सूरज देखे हैं···एक अरवी कहावत सामने खड़ी हुई दिखाई देती है—'दुनिया समय से डरती है, समय पिरामिड से···'

१७ नवम्वर, १९७२

पांच सौ वर्ष की यात्रा

आज एक और पल मेरे सामने खड़ा मुसकरा रहा है—

१९६९ के शुरू के दिनों की एक रात थी, रात का दूसरा पहर। टेलीफ़ोन की घंटी वजी। मेरे वेटे की ट्रंककाल थी, वड़ौदा यूनिवर्सिटी के होस्टल से। मेरे चिन्ता भरे पत्रों के उत्तर में उसकी आवाज़ थी—'मैं विलकुल ठीक़ हूं, मामा!'

वहुत दिनों वाद सुनी उसकी आवाज़ मेरे कानों से होकर मेरे रोम-रोम में उतर गयी।

गर्मी हो या सर्दी, मैं वहुत से कपड़े पहनकर नहीं सो सकती। सो रही थी, जव यह फ़ोन आया था। उसी तरह रज़ाई से निकलकर फ़ोन तक आयी थी—लगा, शरीर का मांस पिघलकर रूह में मिल गया है, और मैं प्योर-नेकिड-सोल वहां खड़ी हूं।

अंधेरे में जैसे विजली चमक जाती है—ख़याल आया, मैं एक साधारण मां, अपने साधारण वच्चे की आवाज़ सुनकर, अगर इस तरह एक हसीन पल जी सकती हूं तो माता तृप्ता की कोख में जिस समय गुरु नानक जैसा वच्चा पल रहा था, माता तृप्ता को कैसा नैसर्गिक अनुभव हुआ होगा?

यह वर्ष गुरु नानक के पंच-शताब्दी उत्सव का वर्ष था। मुझे एक प्रकाशक की ओर से एक लम्वा काव्य लिखने के लिए कहा गया था, पर मैंने मना कर दिया था। लिखती, तो वह काव्य मेरे लहू के उवाल में से उठा हुआ न होता।

पर अव यह पल, जैसे मेरा हाथ पकड़कर मुझे पाच सौ वर्षों के अंधेरे में से ले जाकर, उस मां के पास ले गया जिसकी कोख में गुरु नानक था।

सारा अंधेरा एक मद्धिम-सी लौ में भीग गया। रोशनी से गीला यह पल और फिर न जाने कितने दिन और कितनी रातों में उसकी महक वस गयी। इन्हीं दिनों में मैंने एक ग्रीक कहावत को जिया था—ऑल वुड कैन वी मेड इन-टू ए क्रॉस—और कविता लिखी—'गर्भवती'। माता तृप्ता के गर्भ के नौ महीने जैसे उसके नौ सपने थे।

फिर पंजाब के कुछ अखबारों ने बुरा-भला कहा, और इस कविता को 'बैन' कर देने के लिए पंजाब सरकार से आग्रह किया। वह सब सुना। 'अजीत' दैनिक पत्र में किसी किरपाल सिंह कसेल के लेखों ने मुझे 'कामुक चींटी' कहकर यहां तक लिखा कि पवित्र गुरु नानक पर मुझे कविता लिखने का अधिकार नहीं था।

पंजाबी साहित्य की 'बुज़ुर्ग' आवाज़ें चुप थीं। उनकी ज़िम्मेदारी शायद चुप रहना ही थी।

पर मैं अकेली नहीं खड़ी थी, यह हसीन पल मेरे साथ खड़ा था। हम दोनों हैरान थे, पर उदास नहीं।

देखा—गुरु नानक नाम को बहुत सारे हाथों ने लाठी की तरह पकड़ा हुआ था, और गुस्से से बांहें फैलायी हुई थीं। वह लाठी मेरे चोट मार सकती थी, पर इससे ज्यादा कुछ नहीं कर सकती थी। पर इस पल ने अपने हिस्से की लकड़ी को गढ़ कर उसका क्रॉस बना लिया था।

और यह पल जिसे क्रॉस नसीब हुआ था, आज मेरे सामने क्राइस्ट की तरह मुसकरा रहा है···

एक दोस्ती की मौत

दोस्ती ने मरना सी, सो मर गई
ते दोस्ता !
हुण ऐसदी निंदिआ यां उस्तत
तूं करी जा जो जीअ औंदा है !
हुण ऐस दा कफ़न—
इक मैली दरी दा होवे यां ज़री दा
की फ़रक पैंदा है !
मैं ऐस दी विथिआ सुणां ?
नहीं, एह किआमत दा दिन नहीं,
कि इस दी लाश कबर चों उठे[1]

यह कविता १९७१ में मार्च के अन्तिम सप्ताह में लिखी थी। एक दोस्ती थी जो १९६६ में जन्मी थी, विशुद्ध साहित्यिक मानों-मूल्यों की, जिसकी एक

१. दोस्ती को मरना था, सो मर गयी
और दोस्त !
अब इसकी निन्दा या अस्तुति ?
तू किये जा जो जी में आता है।

बैठक में 'नागमणि'[1] की रूपरेखा बनी थी, यह जब 'हार्ट फ़ेल' जैसे एक झटके से एक ही पल में १९७० के अन्त में मर गयी, तो इसकी मृत्यु के चार महीने बाद यह कविता लिखी थी। यह कविता जैसे उस क़ब्र पर पायी जाने वाली मिट्टी का अन्तिम ढेला थी।

और फिर उस दोस्ती का ज़िक्र सदा के लिए खत्म हो गया।

पर आज सचमुच क़यामत का दिन है—दूसरी क़ब्रों के साथ उसकी क़ब्र भी खुल गयी है। जन्म और मृत्यु, एक यूनानी गीत के अनुसार एक ही मुख से कहे हुए दो शब्द होते हैं— हैलो, फ़ेयरवैल ! सो, एक ही अस्तित्व के दो पल, एक जन्म का, एक मृत्यु का, एक ही क़ब्र में दफ़न थे, और आज दोनों मेरे सामने खड़े हैं···

कैसी आश्चर्यजनक बात—ये पल जब पहले देखे थे, तो जन्म का पल कितना हर्षयुक्त देखा था, और मृत्यु का पल कितना उदास। पर आज जन्म का पल उदास है, और मृत्यु का पल हर्षमग्न।

'मैंने तुम्हें भ्रम में डाला था, इसलिए उदास हूं'—एक पल जैसे कह रहा है, और दूसरा पल भी सच की इस वेला में कह रहा है—'मैंने तुम्हारा भ्रम उतार दिया इसलिए सुर्खरू हूं, खुश हूं।'

यह पंजाबी के एक नए, उभरते हुए, कवि की दोस्ती थी। सोचती हूं—हैरानी किसी न किसी रूप में बनी रहती है। मन की मिट्टी पर कभी पानी गिर जाए तो यह मिट्टी से उठनेवाली गंध के समान भी होती है, और जब सूखा पड़ जाए तो मिट्टी से उड़नेवाली धूल के समान भी होती है।

तब तक जब तक मनुष्य पत्थर न हो जाए। मैं पत्थर नहीं हुई, क्योंकि अभी तक मुझ में हैरान होने वाली हालत बाक़ी है।

उसे—परदेस से स्कॉलरशिप दिलवाकर जब भेजा था तो जो मुख देखा था वह फिर चार वर्ष बाद उसकी वापसी पर नज़र नहीं आया। बहुत परिचित चेहरे किस रास्ते को पार करके बहुत अजनबी बन जाते हैं—लगा था कि मैंने उसके चेहरे पर वह रास्ता देख लिया।

अब इसका कफ़न—
एक मैली दरी का हो या ज़री का
क्या फ़र्क पड़ता है !
मैं इसकी व्यथा सुनूं ?
नहीं, यह क़यामत का दिन नहीं कि इसकी लाश क़ब्र से उठे···

१. एक पंजाबी मासिक पत्रिका जो मेरे संपादन में मई १९६६ से प्रकाशित हो रही है।

मेरे अन्तिम शब्द थे—'दोस्त ! मेरी जिन्दगी में यह बहुत ही कठिन दिन है। यह उसी तरह है जैसे मेरा अपना बच्चा या इमरोज़ जैसा दोस्त परदेस से आया हो, और थोड़े से पैसों की खातिर मेरे सामने झूठ बोल रहा हो, और मैं हैरान की हैरान रह जाऊं···' हां, एक शब्द था—'ऐम्मी', मेरा नाम जिससे मुझे सिर्फ सज्जाद पुकारता था। जब तक उसके खत आते रहे यह नाम सीमाओं को चीर कर भी मेरे कानों तक पहुंचता रहा। पर हिन्दुस्तान और पाकिस्तान के तनाव के समय, जब खतों का सिलसिला नहीं रहा, मेरे कान इस आवाज़ से वंचित हो गए।

इमरोज़ से कहा करती थी—वह मुझे इस नाम से पुकारा करे, पर यह नाम कभी भी उसके मुंह पर नहीं चढ़ा। जब १९६७ में मैं ईस्ट यूरोप गई, वहां वह हंगरी में भी मिला था, रोमानिया में भी, और फिर बलगारिया में भी। एक शाम बातें कर रहे थे, सज्जाद का ज़िक्र आया, और मेरे इस नाम का भी, और उसने मुझे इस नाम से पुकारने का अधिकार मांग लिया। उसके बाद वह मुझे इसी नाम से पुकारता रहा था। पर जिस दिन वह अजनबी बना, वह यह नाम भूल गया—स्वाभाविक भी यही था।

सो, उसके जाने के बाद धरती पर गिरा हुआ अपना यह नाम उठाकर मैंने मेज़ के उस खाने में रख दिया जहां सज्जाद के पुराने खत पड़े हुए हैं।

अब—आज क़यामत के दिन—यही शुक्र है कि इस दोस्ती के जन्म का पल अपने सच्चे रूप में उदास है, और उसकी मृत्यु का पल उदास नहीं है।

सच के बीज

मार्च, १९७२ में जब हिन्दी समालोचक नामवरसिंह को साहित्य अकादमी का अवार्ड मिला, उन्होंने पांच मिनट के एक भाषण में कहा कि आलोचना का कृत्य मैंने इसलिए चुना कि घर में कुछ सजाने से पहले इसकी मिट्टी-धूल झाड़ लूं।

यह आलोचना की अच्छी व्याख्या है, पर एकांगी है, और मैं कितनी ही देर सोचती रही—इसका दूसरा पहलू जिसने पल-पल देखा और भुगता है, कोई उसे इसकी व्याख्या पूछे। अगर साहित्य एक घर है और इसकी मिट्टी-धूल झाड़ना आलोचना, तो क्या अपने अन्दर की मिट्टी दूसरों की दहलीज़ ... फेंकनेवाली रुचि या झाड़-पोंछ की आड़ में वस्तुओं की तोड़-फोड़ को भी ... ?

कुलवन्तसिंह विर्क जिन्दगी में बहुत कम मिला है, ... साहित्यिक क्षेत्र की किसी समस्या पर उसने कभी गंभीरत...

कम से कम मेरे सामने नहीं। पर कोई दो वरस बाद, जून १६७२ में एक वार वह शाम के समय आ गया।

पत्थर के कोयलों का धुआं, यूं तो वरसों से चारों ओर के साहित्यिक वातावरण की हवा में था, पर देश की आजादी के साथ जैसे-जैसे चर्चा के अवसर वढ़े, नामों को सुना-सुनाया जाने लगा, वैसे-वैसे अवसरों को पाने की खींचतान में यह पत्थर के कोयलों का धुआं वहुत गाढ़ा होता गया। और फिर उसमें से कृतियों की लाल ज्वाला निकलने की जगह, अदावतों की चिनगारियां उड़ने लगीं···

कोसों की किताबें भी जिनके अधिकार में थीं—वदली जाने लगीं, और अनेक पृष्ठ आत्म-श्रद्धा से भरे जाने लगे, और पर-निन्दा से काले होने लगे···

विर्क ने उदास मुंह से यही वात छेड़ी, 'पर दुनिया की किसी जवान में ऐसा नहीं होता, यह सिर्फ़ पंजावी में···'

सोच रही थी, जिस तरह माता-पिता का चुनाव अपने हाथ में नहीं होता, उसी तरह वोली का भी। अगर यह-कुछ किसी और ज़वान में नहीं होता और सिर्फ़ पंजावी में होता है, तो भुगतना पड़ेगा। कलम का कृत्य जिस दिन चुना था, उसी दिन यह सव कुछ भी चुना गया। न अव वोली का और चुनाव हो सकता है, न उससे जो कुछ लगा-लिपटा है, उसका···

विर्क कह रहा था, 'तुमने अच्छा लिखा या वुरा, किसी का क्या विगाड़ा···'

मैं सदा यही सोचती थी—मेरी कविताओं या मेरी कहानियों ने अगर किसी का कुछ संवारा नहीं, न सही। मैंने इसके लिए किसी मान्यता की कभी चाह नहीं की। अगर आयु के वरस गंवाए हैं, तो अपनी आयु के, पर मेरे समकालीन इस तरह लाल-पीले रहते हैं जैसे उनकी उम्रें खो गयी हों···

विर्क मेरे मन की वही वातें दोहरा रहा था। मैंने अपना और उसका मन ठिकाने लगाने के लिए उसे अपना नया उपन्यास दिखाया—'अक्क दा वूटा' (हिन्दी में 'आक के पत्ते')। वताया—इस उपन्यास में 'आक' कड़वे सत्य का प्रतीक है। और वताया—उपन्यास की एक लड़की उर्मि को जव उसके सगे-संवंधी क़त्ल कर देते हैं, क़त्ल का खोज नहीं निकलता। उपन्यास का मुख्य पात्र, लड़की का भाई, पूछ-पूछकर हार जाता है पर सवके चेहरों पर पीलापी के समान चुप छायी हुई है, और दोनों गांव—उसका मायका और ससुराल—इस तरह चुप हैं जैसे दोनों को मिरगी पड़ गयी हो, तव उपन्यास का मुख्य पात्र सोचता है—मिरगी के रोगियों को जो नसवार सुंघाते हैं, वह आक के दूध से वनती है। मैं दोनों गांवों को कड़वे सत्य की नसवार सुंघाऊंगा···

विर्क हंसता है—'तुमने आक के पौधे देखे होंगे, तुम जानती हो यह कैसे उगते हैं?'

'इतना जानती हूं, इन्हें वीजता कोई नहीं, पर ये उगते हैं···'

'आक के रुई के गाले-से जब उड़ते हैं, हर गाले में एक बीज छिपा होता है। हर बीज के जैसे पंख लग जाते हों, वह उन पंखों के सहारे उड़ता हुआ जहां-जहां भी जाकर गिरता है वहीं उग जाता है···'

कहा—'यह तुमने बहुत सुन्दर बात कही है, विर्क ! सच को भी कोई नहीं बीजता। इसे परमात्मा की ओर से पंख लग जाते हैं। फिर यह जहां-जहां उड़कर जाता है वहां-वहां उग पड़ता है। नहीं तो—धरती वाले इस धरती पर सच की खेती कभी भी न करते।'

मन को एक सुकून-सा आ गया। विर्क चला गया। दूसरे दिन 'सोवियत लिटरेचर' का वह अंक डाक से आया, जो हिन्दू-रूस साहित्य के बारे में एक विशेष अंक था। उसमें रूसी कवयित्री रिम्मा काज़ाकोवा का, रूसी भाषा में छपी मेरी कविताओं की पुस्तक के संबंध में एक लेख था जिसकी अन्तिम पंक्तियां थीं—'यह साहस का काम है कि कोई अपनी बहुमूल्य और पीड़ासिक्त अनुभूतियां औरों के साथ बंटाए और इस तरह बहुतों का हितचिन्तक मित्र और बन्धु बन जाए। दूर पंजाब की इस स्त्री को मैं विश्वास दिलाती हूं कि यहां के हज़ारों हाथ उससे हाथ मिलाने के लिए आगे बढ़े हुए हैं।'

मैंने रिम्मा को नहीं देखा है। चार बार मास्को गयी, पर उससे भेंट नहीं हो सकी। पर आज मेरी उदासी में उसके हाथ मेरे हाथों के निकट हैं···

आक के बीज पंख लगाकर उड़ते हुए न जाने दुनिया में कहां-कहां जा पहुंचते हैं।

लगा—परियों के पंख केवल लोककथाओं में देखे थे, पर दर्द के बीज जब पंख लगाकर उड़ते हैं, वे मैंने धरती पर भी देख लिये···

एक चुप

जिस प्रकार के कवि-दरबार (सम्मेलन) होते हैं—जानती हूं, मेरी कविता उनकी 'रौनक़' नहीं है। इसलिए उनमें कभी भी मेरी दिलचस्पी नहीं रही। पर पटियाले वाले प्रोफ़ेसर प्रीतमसिंहजी जिन दिनों लुधियाना गवर्नमेंट कॉलेज के प्रिंसिपल लगे हुए थे, उन्होंने स्कूल बोर्ड में एक सवाल उठाया था कि पाठ्यक्रमों की पुस्तकों के सम्पादन जिनसे करवाए जाते हैं, वे सदा नॉन-लेखक होते हैं, और पुस्तकों से कोई आर्थिक लाभ लेखकों को मिलने के स्थान पर लाभ उनको मिलता है जो संपादन करते हैं। उस वर्ष उनकी यह आवाज़ कुछ सुनी

गयी—चाहे संपादन के लिए जितनी राशि उन्होंने प्रस्तावित की थी उसकी आधी से भी कम स्वीकार की गयी (पांच हज़ार के स्थान पर दो हज़ार)—पर उस वर्ष कुछ लेखकों से पुस्तकों के संपादन करवाए गए। और मेरे दिल में उनकी इस बात के लिए जो क़द्र थी, उसी के कारण—जब उन्होंने मुझे कॉलेज की जुबली के अवसर पर लुधियाना बुलाया तो मैं उन्हें इनकार नहीं कर सकी। गई। लौटने की जल्दी थी इसलिए अगले दिन सवेरे के प्लेन से वापस आना था। प्रोफ़ेसर प्रीतमसिंह जी एयरोड्रोम तक छोड़ने आए थे। वहां जब जहाज़ आया तो मालूम हुआ कि यह जहाज़ सिर्फ़ सवारियों के लिए नहीं होता, यह वास्तव में लुधियाना की मिलों का माल ढोने के लिए होता है। सारा जहाज़ गांठों से भरा होता है, सिर्फ़ गिनती की कुछ सवारियां ही उसमें बैठती हैं। प्रोफ़ेसर प्रीतमसिंह जी हंस पड़े—'आज आपको गांठों के साथ सफ़र करना पड़ेगा।' उस समय मैंने सहज स्वभाव उत्तर दिया था, 'सारी उम्र गांठों के साथ ही तो चलती रही हूं, मनुष्य थे ही कहां!'

किसी समय कितने सादे शब्दों में कितने बड़े सत्य पकड़ में आ जाते हैं—वे शब्द मुझे अनेक बार याद आते रहे हैं···

१९७२ की उस सरकारी मीटिंग में भी—जो देश की पचीसवर्षीय स्वतन्त्रता के उत्सव की तैयारी के सिलसिले में बुलाई गयी थी, दो घंटे की इस बहस के बाद कि मुशायरे और कवि-दरबार किस ढंग से किए जाएं, मैंने केवल कुछ ही मिनट लिये थे और कहा था—'कविताएं, नाटक, संगीत जो चाहें सोचिए, पर कुछेक बुनियादी बातों को सामने रखकर। एक यह कि पचीस वर्षों में जो किया है और जो कर सकते थे इसका आत्म-परीक्षण सामने रखिए—एक, आइना सामने रखकर। दूसरी, साधारण लोगों के जीवन में व्यावहारिक परिवर्तन लाने वाली बातों को सामने रखकर। और तीसरी, यह बात कह सकें कि हमारे राजनीतिक नेता अपने अन्दर कोई ऐसा परिवर्तन ले आएं कि जिससे उनके प्रति लोगों में विश्वास उत्पन्न हो।

कमरा कवियों, साहित्यिकों से भरा हुआ था, पर एक चुप फैल गयी···

चुप ही तो फैली हुई है···राजनीति से कुछ कहने से पहले यह सब कुछ अपने साहित्यिक क्षेत्रों से कहने का हक़ बनता है—इसलिए पहले वही सामने आ जाते हैं।

याद आ रहा है—एक समकालीन को कहानियों की एक पुस्तक किसी कोर्स लिए तैयार करनी थी। मुझे एक पोस्टकार्ड लिखा, मेरी एक कहानी की मति के लिए। उत्तर दिया—'अनुमति भेज दूंगी। केवल इतना बता दीजिए अगर यह पुस्तक कहीं कोर्स में लग गयी तो लेखकों को कुछ पैसे मिलेंगे?' तो उस पत्र का उत्तर यह था—कि समकालीन जी ने मेरी कहानी ही पुस्त

निकाल दी।

और याद आ रहा है कि एक बार एक यूनिवर्सिटी के लिए कुछ पुस्तकें पेश हुईं। बोर्ड द्वारा स्वीकार हुईं तो मालूम हुआ कि एक पुस्तक के संपादक महोदय ने किसी कवि से भी उसकी रचना का उपयोग करने के लिए उसकी अनुमति नहीं ली। कुछेक ने शिकायत की, पर प्रकाशक से थोड़े-से पैसे लेकर चुप हो गये। मेरी शिकायत एक सिद्धान्त के लिए थी कि किसी की कोई भी रचना उपयोग करने से पहले शिष्टाचार की यह मांग है कि उससे अनुमति ली जाए। सो इस मांग के आधार पर बोर्ड से फिर पूछा गया कि अगर अमृता प्रीतम की कविताएं इस पुस्तक से निकाल दी जाएं तो कोई अन्तर पड़ेगा?—बोर्ड का निर्णय यह हुआ कि कोई अन्तर नहीं पड़ेगा।

सोचती हूं—ऐसे बोर्ड आज भी कुछ दोषपूर्ण हैं। यह 'दोष' भी निकल जाएंगे तो किसी दिन ऐसे बोर्ड यह निर्णय भी दे सकेंगे—'सब कवियों की कविताएं निकाल दो जी! कोई अन्तर नहीं पड़ता।'

हंसकर रेडियो ऑन करती हूं—अजीब संयोग है, कोई अहमद नदीम क़ासमी की ग़ज़ल गा रहा है—'सुबह होते ही निकल आते हैं बाज़ार में लोग, गठरियां सर पर उठाए हुए इमानों की'···

काले बादलों के सुनहरी किनारे

काले बादलों को सुनहरी किनारियां भी लग जाती हैं—कभी हैरान आसमान के मुंह की ओर देखती रह जाती हूं।

एक दिन मन भर आया। एक अमरीकन उपन्यास का अनुवाद कर रही थी। कई शब्द ऐसे आए जो किसी डिक्शनरी में नहीं मिले। मेरी सहायता के लिए यू. एस. आई. एस. के हरबंससिंह जी ने मुझे एक डिक्शनरी भेजी, और इस सौग़ात के पहले पृष्ठ पर लिख भेजा—'टू अमृता प्रीतम विद ऑल द गुड वर्ड्स फ्राम दिस डिक्शनरी'।

मेरे समकालीन सदा डिक्शनरी के बुरे से बुरे शब्द चुनकर मेरे लिए प्रयोग करते हैं, पर सारे अच्छे शब्द चुनकर मुझे देने का किसी को ख़याल आ गया, यह कैसे हो गया···

बुरे शब्दों की कानों को आदत डाल ली हो, तो इस-जैसी एक पंक्ति को देखकर भी कान चौंधिया जाते हैं···

इसी तरह बंगला देश के संघर्ष के समय एक दिन एक सिपाही का फ़ोन आया

था—'फ़्रन्ट से एक दिन के लिए दिल्ली आया हूं, मिलना चाहता हूं'···शाम के समय वह मिलने आया तो हिन्दुस्तान में पनाह ले रही बंगाली औरतों के संबंध में बताते हुए कहने लगा—'बहुत-सी बूढ़ी औरतें हैं, पर जवान भी हैं, उन्हें हम नावों में से उतारकर कैम्पों में पहुंचाते हैं। मुझे सिर्फ़ यही बात कहनी थी कि जिसने आपके नाविल पढ़े हैं, वह उन पराई औरतों के साथ आदर का सलूक करता है, उन पर बुरा हाथ नहीं डालता।' लगा, आज तक जो कुछ लिखा था, ठिकाने पड़ गया है। मेरे उपन्यास आलोचकों की मेज़ों तक न पहुंचें, न सही, यह उससे कहीं दूर, साधारण सिपाहियों के मन तक पहुंच गए हैं···

आज याद आ रहा है—इससे पहली लड़ाई के समय, एक सिपाही ने जंग पर जाते हुए अपनी कविताओं की हस्तलिखित लिपि मेरे नाम रजिस्ट्री करवाकर भेज दी थी कि 'अगर मैं जीता रहा तो वापस आकर ले लूंगा। अगर मर गया तो ये कविताएं कहीं छाप दीजियेगा।' मैंने जिसे कभी देखा नहीं था उसका कैसा विश्वास जीत लिया था—आंखें भर आयी थीं···

जून १९७२ में नेपाल के एक उपन्यासकार धूसवां सायमी नेपाल एम्बेसी के कल्चरल कौंसिलर के पद पर दिल्ली आए, तो मिलने आए। बताने लगे—'मेरी डायरी में एक जगह लिखा हुआ है—व्हैन आयी रीड अमृता प्रीतम माई इंडियन फ़ीलिंग्ज आर वैनिश्ड।'[1]

'कलम ने अज्ज तोड़िया गीतां दा क़ाफ़िया, एह इश्क़ मेरा पहुंचिया अज्ज हड़े मुकाम ते।'[2] वह भी एक मुकाम था १९६० का जब यह कविता लिखी थी, और फिर—यह भी एक मुकाम है, दूर-पार बसने वाले लोगों के प्यार का—जहां पहुंचकर हैरान भी हूं और उन राहों की शुक्रगुज़ार भी जो आखिर मुझे इस मुकाम पर ले आए हैं···

धूप के टुकड़े

देश के विभाजन से पहले तक मेरे पास एक चीज़ थी जिसे मैं संभाल-संभालकर रखती थी। यह साहिर की नज़्म 'ताजमहल' थी जो उसने फ्रेम कराकर

---

१. मैं जब अमृता प्रीतम की कोई रचना पढ़ता हूं तब मेरी भारत-विरोधी भावनाएं ख़त्म हो जाती हैं।

२. कलम ने आज गीतों का क़ाफ़िया तोड़ दिया, आज मेरा इश्क़ किस मुक़ाम पर पहुंचा है···

मुझ दी थी। पर देश के विभाजन के वाद जो मेरे पास धीरे-धीरे जुड़ा है—आज अपनी अलमारी का अंदर का ख़ाना टटोलने लगी हूं तो दवे हुए ख़ज़ाने की भांति प्रतीत हो रहा है···

एक पत्ता है जो मैं टॉल्स्टाय की क़ब्र पर से लायी थी और एक काग़ज का गोल टुकड़ा है जिसके एक ओर छपा हुआ है—'एशियन राइटर्स कांफ्रेंस' और दूसरी ओर हाथ से लिखा हुआ है 'साहिर लुधियानवी'। यह कांफ्रेंस के समय का 'वैज' है जो कांफ्रेंस में सम्मिलित होने वाले प्रत्येक लेखक को मिला था। मैंने अपने नाम का वैज अपने कोट पर लगाया हुआ था, और साहिर ने अपने नाम का अपने कोट पर। साहिर ने अपना वैज उतारकर मेरे कोट पर लगा दिया, और मेरा वैज उतारकर अपने कोट पर लगा लिया—और आज वह काग़ज़ का टुकड़ा, टॉल्स्टाय की क़ब्र से लाए हुए पत्ते के पास पड़ा हुआ मुझे ऐसे लग रहा है जैसे यह भी मैंने एक पत्ते की तरह अपने हाथ से अपनी क़ब्र पर से तोड़ा हो···

पास ही वियतनाम की वनी हुई एक ऐश-ट्रे है जो अज़रवैजान की राजधानी वाकू में वहां की कवयित्री मिखारद खानम ने मुझे दी थी, यह कहकर कि 'जव तुम्हारे इलहाम का धुआं तुम्हारे सिगरेट के धुएं से मिल जाए, तो मुझे याद करना···'

वरसों इस धुएं में चेहरे उभरते रहे, मिटते रहे। सिर्फ़ औरों के ही नहीं, अपना चेहरा भी। अपनी आंखों के सामने अपना चेहरा भी—पिघलता और कांपता हुआ—वास्तव में तव ही देखा है जव कोई कविता लिखी है।

याद है—मेरे पिताजी के पास एक वहुत सुन्दर पीतल की डिविया थी जिसमें रेशमी कतरन की तह में रखा हुआ एक वहुत ही पतला-सा चमड़े का टुकड़ा था जो उन्होंने उस घराने से मांगकर लिया था जिसका दावा था कि उनके पास पूर्वजों से मिली हुई गुरु गोविन्दसिंह जी के पैरों की एक जूती थी जो अव चमड़े का एक वड़ा-सा टुकड़ा मात्र रह गयी थी। यह पतला-सा छिलका उसी टुकड़े में से उखड़ा हुआ एक टुकड़ा था। पिताजी जव भी अपनी मेज़ का वह ख़ाना खोलते थे जिसमें पीतल की वह डिविया रखी हुई थी तो अदव से भर जाया करते थे।

मालूम नहीं—किसके लिए किस चीज़ का स्पर्श अदव वन जाता है···

और कव और किस तरह? यह नहीं जानती। केवल यह जानती हूं कि हाथ ऊंचा करके मैंने उस जगह को स्पर्श किया है जहां मानवीय सौन्दर्य दिव्य वन जाता है।

क़ब्र की वात कर रही थी—हर उस पल की क़ब्र—जिसमें मानवीय सौन्दर्य को दिव्य वनते हुए देखने वाली अवस्था सम्मिलित है।

इस अवस्था को हुंकारा देते हुए—इमरोज़ के पत्र पड़े हुए हैं, और कुछ पत्र सज्जाद के, और चार-पांच साहिर के। मेरे लिए मेरे दोनों वच्चों के पत्र भी इस

अवस्था का हिस्सा हैं।

और—इस क़ब्र को सजाने वाले कई फूल-पत्ते हैं—कुछ पाठकों के पत्र और कुछ दूर-दराज़ के लेखकों की दी हुई सौग़ातें—उज़बेक कवयित्री ज़ुल्फ़िया की दी हुई रंगीन अतलस की कुछ क़मीज़ें, जार्जियन कवि इराकली आबाशीदज़े के दिए हुए वाइन-जार, और शोता रुस्तावैली की चित्र-खचित अंगूठियां, बाकू के कवि रसूल रज़ा का दिया हुआ तसवीरी-क़ालीन और गोर्की का काष्ठ-चित्र, बलगारियन लेखिकाओं बागिरआना, डोरा गावे, सतांनका और कामेनोवा की सौग़ातें—इत्र, मफ़लर, ब्रोच, नग-जटित हार—और एक बलगारियन नाटकों की निर्देशिका यूलिया को अपनी माता से विरसे में मिली हुई चांदी की झालर का आधा टुकड़ा जो उसने यह कहकर दिया था—'आज मां का विरसा बांट लिया है, इसलिए अब हम बहनें हैं'—और बलगारिया की बुत-तराश ऐन्तोनिया की भेजी हुई वह तसवीर जो मेरा बुत बनाकर और उसकी तसवीर खिचवाकर उसने मुझे सौग़ात के तौर पर भेजी थी···

लग रहा है—धूप के कितने ही टुकड़े मेरी अलमारी के अंधेरे में पड़े हुए हैं···

यूगोस्लाविया की उपन्यासकार गरोज़दाना का भेजा हुआ 'सफ़ेद रातों का संगीत' रिकार्ड-प्लेयर पर सुनती हूं तो उसमें वह जार्जियन संगीत भी मिश्रित हो जाता है जो इराकली की मुझ पर लिखी हुई कविता का संगीत बनाते हुए वहां के संगीतकार शालवा मशवेलिडज़े ने मेरे नाम अर्पित कर दिया था···

जापान के एक लेखक मोरीमोटो का भेजा हुआ स्वेटर और चीन के एक लेखक की दी हुई चीनी-पंखी, मेरी ग्रीष्म और शरद ऋतुओं को कुछ कहते प्रतीत होते हैं···और टैगोर की पीतल की मूर्ति जो मास्को में टैगोर-दिवस पर मुझे मिली थी, धीरे से मेरी एक किताब की ओर देखकर मुसकराती है जिसमें फ़ैज़ ने एक दिन अपना एक शेर लिख दिया था—'आ गयी फ़स्ले-सुकूं चाक गरेबां वालो! सिल गए हैं होंठ कोई ज़ख्म सिले न सिले···'

होंठों पर भी कई धन्यवाद हैं—उन दूर-पार के दोस्तों के लिए जिन्होंने अपना समय व्यय किया, मन व्यय किया, और मेरी कई कविताओं और कहानियों को अपनी-अपनी भाषा के लोगों तक पहुंचाया···

आइगोर सैरवरियाकोफ़ बहुत मेहरबान मित्र हैं, उन्होंने कई किताबों में से चुनकर एक पूरी किताब की कविताएं रूसी में उल्था की हैं। न्यूज़ीलैंड के चार्ल्स ब्रैश ने अपनी हिन्दुस्तान-यात्रा के कई दिन मेरी कविताओं का अंग्रेज़ी अनुवाद करने में बिताए। यूगोस्लाविया की एलियाना चूरा ने कई कविताओं का सर्ब में अनुवाद किया, फिर अल्बेनियन में अनुवाद करवाकर पूरी क़िताब छपवाई और यूगोस्लाविया में अनेक बार मेरी कविताओं की साहित्यिक संध्या मनायी।

गरोज़दाना ने कई कहानियां, 'पिंजर' उपन्यास का संक्षिप्त रूपान्तर और 'यात्री' उपन्यास सर्ब में अनुवाद किया। मोरीमोटो ने जापानी में कई कविताओं का अनुवाद किया। जार्ज ग्रिफ़िथ ने लन्दन में कविता की एक संध्या मनाते हुए मेरी कविताएं पढ़ीं। मिशीगन के कार्लो कपोलो ने अपनी पत्रिका का एक पूरा अंक मेरी कविताओं और कहानियों के हवाले कर दिया। खुशवन्त सिंह ने 'पिंजर' उपन्यास अनुवाद किया। महेन्द्र कुलश्रेष्ठ, प्रीतीश नन्दी, सुरेश कोहली और मनमोहन सिंह ने कई कविताओं के अनुवाद किये, और कृष्णा गोरोवारा ने पूरे तीन उपन्यासों को अंग्रेज़ी में अनूदित किया।

ये सब धूप के टुकड़े मेरे आसमानों पर हैं...

मेरे अपने देश में भी दूसरी भाषाओं वालों ने मुझे बहुत प्यार और मान दिया है। उर्दू वालों ने मेरी लगभग पन्द्रह पुस्तकें उर्दू में छापी हैं, तीन कन्नड़ भाषा वालों ने, दो गुजराती वालों ने, दो मलयालम वालों ने, दो मराठी वालों ने और हिन्दी वालों ने तो सब-की-सब छापी हैं। बल्कि आर्थिक स्वतंत्रता मुझे हिन्दी भाषा से ही मिली है। चुनी हुई रचनाओं का एक बृहत् संग्रह, मेरी अपनी भाषा में नहीं, हिन्दी में है। हिन्दी में अनूदित कविताओं के संग्रह 'धूप का टुकड़ा' के समय श्री सुमित्रानन्दन पन्त के शब्द पढ़कर सचमुच आंखें भर आयी थीं। उन्होंने लिखा था—'अमृता प्रीतम की कविताओं में रमना हृदय में कसकती व्यथा का घाव लेकर, प्रेम और सौन्दर्य की धूप-छांह वीथि में विचरने के समान है। इन कविताओं के अनुवाद से हिन्दी काव्य भाव-धनी, स्वप्न-संस्कृत तथा शिल्प-समृद्ध बनेगा...'। डॉक्टर भगवतशरण उपाध्याय ने भी एक लम्बा लेख लिखा, जिसे उन्होंने अपने ग्रन्थ 'समीक्षा के संदर्भ' में भी सम्मिलित किया। इसकी कुछ पंक्तियां थीं—'संग्रह हाथ में आया। एक कविता पढ़ी, फिर दूसरी, फिर तीसरी, और फिर तो जैसे मन पर अधिकार न रहा...।' आज पन्तजी और भगवत-शरणजी के ये कृपापूर्ण शब्द फिर एक बार पढ़कर अपने मन पर मेरा अधिकार नहीं रहा है। वह ऐसे विशाल-हृदय साहित्यकारों के सामने नत हो गया है...। १९६८-६९ में मिशीगन स्टेट यूनिवर्सिटी की ओर से कार्लो कपोलो ने जब अपनी पत्रिका का एक सम्पूर्ण अंक मेरी रचनाओं पर प्रकाशित किया था उसमें भी एक हिन्दी लेखक रेवतीसरन शर्मा ने मेरे उपन्यासों पर बहुत विस्तार सहित एक लेख लिखा—'दी सर्च फ़ार फेमिनिन इन्टीग्रिटी'।

कुछ बहुत प्यारे पत्र भी मेरे सामने एक फ़ाइल में पड़े हुए हैं—

प्रिंसिपल तेजासिंह पंजाबी भाषा के प्रथम आलोचक थे, और अपने ढंग के अन्तिम भी। उनका एक पत्र है २३ मार्च १९५० का—'अज़ीज़ी अमृता! अख़बारों की बेढंगी चालें देखकर दिल न छोड़ना। आप अनन्त काल के लिए हैं। यदि कोई एक समय आपकी काव्य-प्रसिद्धि को न भी संभाल सके तो कुछ परवाह

नहीं।'

बंगाल के प्रसिद्ध लेखक प्रबोधकुमार सान्याल १९६० में नेपाल में मिले थे। वहां पहली बार उन्होंने मेरी कविताएं सुनीं और मैंने उनका गंभीर व्यक्तित्व देखा। बाद में दिल्ली आकर उनका वह प्रसिद्ध उपन्यास पढ़ा—'महाप्रस्थान के पथ पर', जिस पर कभी फ़िल्म भी बनी थी, और उन्होंने कलकत्ता पहुंचकर मेरा उपन्यास 'पिंजर' पढ़ा। एक-दो पत्रों में इसका उल्लेख हुआ। कुछ वर्ष बाद वह दिल्ली आए तो उनके पास मेरा पता नहीं था, कुछ अंदाज़ा-सा था कि कुतुबमीनार की ओर जाते हुए रास्ते में कोई कॉलोनी है, और बस इतने-से ही अंदाज़े को लेकर वह मेरा मकान ढूंढने लगे।

कई कॉलोनियों में घूमकर उन्होंने दोपहर के समय मेरा मकान ढूंढ ही लिया। गर्मियों की जलत[illegible]हें पसीने-पसीने देखकर हैरान हुई तो वह हंसने लगे [illegible]खिर तो तुम्हारा मकान दिल्ली में ही है। ज्यादा से ज़्[illegible]ड़ेगा, पर मकान तो ढूंढ़ ही लूंगा...' ऐसे स्नेह के आ[illegible] जाता है।

हनोई से वियतनाम के विख्यात कवि स्वन ज़िआओ (Xuan Dieu) का एक पत्र है, २ फ़रवरी १९५८ का—'वसन्त उत्सव (वियतनामी पारम्परिक चांद्र नव वर्ष) आ रहा है, और आपकी कविताओं का संग्रह आड़ू-पुष्प के रंग की जिल्द में लिपटा हुआ, मुझे आभास दिला रहा है कि वसन्त मेरे पास पहले ही आ गया है। हमारे प्रेसिडेंट हो ची मिन्ह शीघ्र ही आपके महान् देश की यात्रा पर जाने वाले हैं। मैं समझता हूं आप उनके उन दोस्तों में हैं जो उनका हृदय से स्वागत करेंगे।'

पूना से श्री दि० के० बेडेकर का पत्र है—मेरे नाम नहीं, श्री प्रभाकर माचवे के नाम, २९ जुलाई १९५३ का लिखा हुआ—'ऊंचे शब्दों का मोह टालकर 'पिंजर' की कथा लिखना, किसी भी कलाकार के संयम की परीक्षा थी। मूल आत्मा को ही सामने रखकर एक-एक शब्द लिखने से यह अनायास संयम इस श्रेष्ठ कलाकृति में प्रतीत होता है। मैं तो अपने को धन्य समझता हूं कि ऐसा उपन्यास पढ़ने को मिला। मन में एक ही प्रबल इच्छा है—'पिंजर' की कथा मराठी-वाचकों को पढ़ने को मिले। मेरे मित्र श्री जोशी अच्छे कथा-लेखक हैं, वह 'पिंजर' का अनुवाद करेंगे और मूल कथा का हृदय जागता रहेगा...'

प्रभाकर माचवे सदा ही बड़े कृपालु मित्र रहे हैं। उनकी अनेक खामोश और गम्भीर मेहरबानियां याद आ रही हैं।

जैनेन्द्रकुमार हिन्दी के प्रथम लेखक थे—मैंने उन्हें देखा नहीं था—जब उन्होंने मेरा एक उपन्यास पढ़कर किसी को पत्र लिखा और उसकी प्रशंसा की और उसने वह पत्र मुझे भेज दिया। वह पत्र आज मुझे मिल नहीं रहा है, पर जैनेन्द्रजी तो सदा ही बड़े अच्छे मित्र रहे हैं।

चार्ल्स ब्रैश न्यूज़ीलैंड के प्रसिद्ध कवि थे, 'लैंडफाल' के सम्पादक। उनका ६ मार्च १९६४ का लिखा हुआ पत्र मेरे सामने है—"मैंने 'द स्केलेटन' ('पिंजर' का अंग्रेज़ी अनुवाद) पढ़ा है और मैं आपको बताना चाहता हूं कि मैंने इसे कितना मर्म-द्रावक पाया। आपने कथा का सहृदयता, मितव्ययिता तथा संयम से निर्वाह किया है। आप इस पर सहज गर्व कर सकती हैं।"

साथ ही स्मरण हो आ रहा है कि इसी उपन्यास 'पिंजर' के विरुद्ध मेरे एक समकालीन लेखक ने बड़ा कष्ट उठाकर अनेक पत्र अखबारवालों और रेडियो वालों को भेजे थे, और साथ ही यह मांग की थी कि मेरे गीत रेडियो से प्रसारित न किये जाएं।

फ़ाइल में रखे हुए अनेक प्यारे खत फिर से पढ़ते समय, और जो अपनी भाषा में मेरे साथ होता है उसे स्मरण करते हुए, कई बार ऐसा प्रतीत होता है कि जैसे एक ही समय में मैं एक बहुत ठंडी और बहुत गर्म नदी में नहा रही हूं···

अग्नि-स्नान

'Create an idealized image of yourself and try to resemble it' —ये शब्द काज़ानज़ाकिस ने अपनी पहली मुलाक़ात में अपनी प्रेमिका से कहे थे। मुझसे ये किसी ने नहीं कहे, पर मैंने सुने थे—अपने लहू में से सुने थे···

और फिर अपने होंठों से ही अपने कानों को कई बार सुनाती रही—तब भी जब इनके अमल से चूक जाती थी···

मैं यह नहीं कहती कि इन शब्दों का तिलिस्म मेरी पकड़ में आ चुका है—केवल यह कि सारी उम्र ये मेरे सहायक रहे हैं। इनका तिलिस्म ही शायद इस बात में है कि अपनी सूरत जब भी अपने कल्पित आपे से कुछ मिलने लगती है—कल्पित आपा और भी सुन्दर होकर दूर जाकर खड़ा हो जाता है।

केवल यह कह सकती हूं कि सारी उम्र इस तक पहुंचने के लिए एक जतन करती रही हूं।

जतन अपने आप में एक ढाड़स होता है—इसने ही एक बार कुछ ऐसी ढाड़स

दी थी कि अठारह वर्ष से एग्ज़ीमे का कष्ट भोगने वाले अपने पति से कह सकी थी, 'आपके मन ने यह तलाक़ स्वीकार कर लिया है, पर आपके मन ने अभी इर्द-गिर्द के लोगों की गुस्ताख़ आंखों और कसैली जीभों के सामने इस सच को स्वीकार नहीं किया है। मुझसे अलग होने की घटना लोगों को देख लेने दीजिये। वे चार दिन बोल-बककर जब चुप हो जाएंगे, हम अपने भीतर की सच्चाई को उनकी आंखों की आग में से लंघाकर ले जाएंगे—तब इस अग्नि-स्नान के बाद हम निरोग हो जाएंगे।' एक पेशीनगोई-सी भी की, 'आपका एग्ज़ीमा दूर हो जाएगा।' और हमने अलग होने की तारीख़ निश्चित कर ली—आठ जनवरी। यह १९६३ के सितम्बर की बात है। बरस चढ़ते, जनवरी की आठ तारीख़ को, अपने निश्चित किए हुए दिन, हम अलग हो गए। और फ़रवरी में उनका एग्ज़ीमा बिलकुल ठीक हो गया, अठारह वर्ष बाद, और बिना किसी दवा-दारू के।

सोचती हूं—यह सच का सामना करने का साहस था जिसने मन को, और तन को, बल दिया।

कुछ इसी तरह की घटना १९६० में भी हुई थी। इमरोज़ की मुहब्बत में सचाई ज़रूर थी, पर उसमें बहुत गहरे कहीं दुविधा भी मिली हुई थी, बहुत हद तक उसकी अपनी दृष्टि से भी ओझल। वह इस दुविधा के पलों को 'काला आदमी' कहा करता था—जो कभी-कभी उसके अन्तर में से उभरता और फिर अन्दर ही कहीं लोप हो जाता था। यह शायद मेरा और उसका चेतन-जतन था कि वह दुविधा कुछ समय के लिए इतनी गहराई में उतर गयी कि फिर सतह पर उसका अस्तित्व कहीं दिखाई नहीं दिया। हमें लगा, हम उससे मुक्त हो गए हैं। पर इमरोज़ को बुख़ार आने लगा। ऐक्स-रे भी लिये, पर 'वह' ऐक्स-रे में कहां दिखाई देनी थी। बुख़ार आते हुए दूसरा महीना लग गया—और तब वह अपने आप ही सतह पर आ गयी। मैं जानती हूं, उन दिनों के मेरे आंसू मेरे कल्पित-आपे की रूपरेखा से मेल नहीं खाते थे, मैं उससे बहुत छोटी हो गयी थी, पर यह स्पष्ट-सा हो गया था कि जब तक वह मुझसे बहुत दूर नहीं हो जाएगा, उसका बुख़ार नहीं उतरेगा। एक-दूसरे की सरज़मीन को पाने के लिए दूरी के रेगिस्तान से गुज़रना जरूरी था—यह जानने के लिए कि अन्तर की प्यास कितनी है, और किसलिए है। जब दूरी का क़दम उठा लिया—चाहे वह बहुत कठिन था—तब इमरोज़ का बुख़ार उतर गया।

यह और बात है कि इस दूरी को हमने पूरे तीन बरस दिये। और बदले में इसने हमें आपे की पहचान दी। और इमरोज़ को विश्वास हो गया कि इस दुनिया में उसे केवल मेरी आवश्यकता है।

पर दो महीने के बुख़ार के उतरने का चमत्कार—केवल उस हिम्मत [illegible] हुआ था कि हम आधा सच नहीं जीएंगे। उठाया हुआ क़दम अगर पूरा [illegible]

[illegible]

मालूम होता तो वह क़दम लौटा लेना चाहिए।

यहां एक बात याद आ रही है—एक बार रेवतीसरन शर्मा टेलीविज़न पर मुझसे इन्टरव्यू कर रहे थे, अचानक उन्होंने यह प्रश्न किया—'अमृता जी! आपके नाविलों की लड़कियां अपने सच की तलाश में बने घर तोड़ देती हैं, क्या यह समाज के लिए हानिकारक नहीं है?' सहज स्वभाव मुंह पर उतर आया था—'रेवती जी! आज तक जितने घर टूटते रहे हैं, झूठ के हाथों टूटते रहे हैं, अब कुछ सच के हाथों भी टूट लेने दीजिये!'

जानती हूं, सच की चाल चलना कितना कठिन है, पर स्वयं को स्वयं के कल्पित मानस-चित्र से मिलाना भी एक शाश्वत संघर्ष है।

सच एक रिलेटिव टर्म है। अनेक बार आज का सच कल का सच नहीं रहता—पर यहां सच से मेरा अभिप्राय उस ईमानदार 'सोच' से है जो मन और तन के कर्म में सामंजस्य ले आता है—किसी साज़ के तारों को सुर करने की तरह।

इमरोज़

'उमरा दे इस काग़ज़ उत्ते इश्क़ तेरे अंगूठा लाया, कौन हिसाब चुकाएगा।'[1] इस कविता की पृष्ठभूमि यह थी कि एक बार एक उर्दू मुशायरे के मौक़े पर लोग साहिर से आटोग्राफ़ ले रहे थे। लोग कुछ परे हुए तो मैंने हंसकर अपनी हथेली उसके आगे कर दी और कहा, 'आटोग्राफ़!' साहिर ने हाथ में लिये हुए क़लम की स्याही अपने अंगूठे पर लगाकर, वह अंगूठा मेरी हथेली पर लगा दिया, मानो मेरी हथेली के कागज़ पर हस्ताक्षर कर दिया हो। मेरे इस काग़ज़ पर क्या लिखा हुआ था जिस पर उसने हस्ताक्षर किया था, यह सब हवाओं के हवाले है। उसे न उसने कभी पढ़ा, न ज़िन्दगी ने, इसीलिए कह सकती हूं—

साहिर एक खयाल था—हवा में चमकता हुआ शायद मेरे अपने ही खयालों का एक जादू, पर इमरोज़ के साथ बिताई हुई ज़िन्दगी, शुरू के कुछ बरसों को छोड़कर, एक बेखुदी के आलम तक पहुंच गयी है। इस आलम को शायद—इस वक़्त याद आयी हुई एक बात से कुछ पकड़ा जा सकता है। एक दिन घर आए हुए एक मेहमान ने मेरा और इमरोज़ का हाथ देखा। मुझसे कहा—'आपके हाथ में धन की बड़ी गहरी और लम्बी रेखा है, आपको ज़िन्दगी में धन की कमी नहीं हो सकती।' पर इमरोज़ से उसने कहा—'आपके पास रुपया कभी नहीं जमा होगा। आपके

---

१. मेरी उम्र के इस काग़ज़ पर तेरे इश्क़ ने अंगूठा लगाया, इसका हिसाब कौन देगा···

हाथ की रेखा जगह-जगह से टूटी हुई है।' इमरोज़ ने अपने हाथ में मेरा हाथ लेकर कहा—'अच्छा है, फिर हम दोनों एक ही रेखा से गुज़ारा कर लेंगे।'

१९६४ में जब इमरोज़ ने हौज़ खास में रहने के लिए पटेलनगर का मकान छोड़ा था, तब अपने नौकर की आखिरी तनखाह देकर उसके पास एक सौ और कुछ रुपये बचे थे। पर उन दिनों उसने एक ऐडवर्टाइज़िंग फ़र्म में नौकरी कर ली थी, बारह-तेरह सौ वेतन था, इसलिए उसे कोई चिन्ता नहीं थी। पर एक दिन—दो-तीन महीने बाद—उसने लाउड-थिंकिंग के तौर पर मुझसे कहा—'मेरा जी करता है, मेरे पास दस हज़ार रुपया हो, ताकि जब जी में आए नौकरी छोड़ सकूं और अपने मन का कोई तजुर्बा कर सकूं।' महंगाई बढ़ रही थी, पर उसकी कही हुई बात, मेरा जी करता था, पूरी हो जाए। जल्दी ही एक साधन भी बन गया—इमरोज़ को वेतन के अतिरिक्त पांच सौ रुपये मासिक का काम अलग मिल गया। सो, ख़र्च में जितनी कमी कर सकती थी, की, और इमरोज़ के दस हज़ार रुपये जोड़ने की लगन लगा ली।

लगभग सवा बरस में सचमुच दस हज़ार रुपया इकट्ठा हो गया, और इमरोज़ ने एक दिन अचानक नौकरी छोड़ दी। अलग काम का पांच सौ का अलग आसरा था, वह भी अगले महीने अचानक बन्द हो गया। मुझे तीन महीने के लिए यूरोप जाना था, चली गयी। मेरी अनुपस्थिति में इमरोज़ ने बाटिक का तजुर्बा करना सोच लिया, और उसके लिए अपने भाई को दक्खिन की ओर भेज दिया कि वहां से बाटिक का एक अच्छा कारीगर खोजकर ले आए।

मैं यूरोप से वापस आयी तो पहले से ही इमरोज़ ने ग्रीन पार्क में तीन सौ रुपये मासिक पर एक मकान किराये पर लिया हुआ था, जिसमें दो कारीगर रहते थे, और कड़ाहों में रंग उबालकर नए ख़रीदे हुए कपड़ों के थानों पर बाटिक का तजुर्बा कर रहे थे। रंग एकसार नहीं आ रहे थे, और इन धब्बेदार कपड़ों को ढेर के ढेर फेंका जा रहा था।

उन दिनों इमरोज़ का मिज़ाज दिल्ली के उस मौसम की तरह था, जब दोपहर के समय शरीर लू की तपिश से जलने लगता है, और शाम पड़ते ही ठंड से सिहरने लगता है। कुछ कहना चाहा—पर सारे शब्द व्यर्थ थे।

ढाई सौ रुपये महीने पर एक दर्ज़ी और आ गया, जो अच्छे बने कपड़ों को काट-काटकर क़मीज़ों की शक्ल में सिलता था।

पर क़मीज़ों की कमर का साइज़ उर्दू शायरी की हसीना की कमर की तरह था···

ऐसी कोई पांच सौ क़मीज़ों का हश्र यह हुआ कि इन्हें बरसों तक संभालकर रखने के लिए एक अलमारी बनवानी पड़ी, और एक बड़ा ट्रंक ख़रीदना पड़ा। एक दिन की बात याद आ जाती है तो आज भी हंसी छूट पड़ती है। एक दिन एक

अमरीकन स्त्री को एक क़मीज़ बहुत पसन्द आयी, वह देख रही थी कि उर्दू शायरी की हसीना की कमर के लिए सिली हुई यह क़मीज़ उसके नहीं आएगी, पर उसने एक पर्दे की ओट में होकर किसी तरह उस क़मीज़ को अपने शरीर पर फंसा लिया। उतारने लगी तो गले से न निकले। हारकर उसने पर्दे के पीछे से आवाज़ दी—'प्लीज़ गैट मी आउट ऑफ़ दिस शर्ट।'

दस हज़ार बिलकुल ख़त्म हो गए तो इमरोज़ ने अपना इकलौता प्लॉट बेच दिया। साढ़े छह हज़ार में बिका। एक बरस के इस तजुर्बे में, किताबों के इक्का-दुक्का टाइटल बनाकर उसने जो कमाया था—उसे भी मिलाकर—ख़र्च का पूरा जोड़ बीस हज़ार हो गया।

और फिर, बाटिक से उसका जी भर गया। इस तजुर्बे में सिल्क की एक क़मीज़ और सिल्क की एक साड़ी जो इमरोज़ ने अपने हाथों से बनाई थी, मेरे पास है। जब भी यह कमीज़ या साड़ी पहनने लगती हूं, बीस हज़ार का ख़याल आ जाता है। और कभी उदास होने लगती हूं तो इमरोज़ हंसकर कहता है—'इतनी कीमती साड़ी तो किसी मलिका ने भी न पहनी होगी, तुम्हें ख़ुश होना चाहिए कि आज तुमने दस हज़ार की साड़ी पहनी हुई है···।' सो, मेरी यह साड़ी भी दस हज़ार की है, और कमीज़ भी दस हज़ार की···

मैं सचमुच अमीर हूं—यह इमरोज़ के उस हौसले की अमीरी है जो बीस हज़ार रुपये खोकर इस तरह हंस सकता है। और यह बीस हज़ार भी वह, जो उसने न उससे पहले कभी देखे थे, न बाद में···

इमरोज़ को समझना कठिन नहीं। उसमें एक रेखा है जो बराबर चली आ रही है—हथेली पर नहीं, मस्तिष्क के सोचने में। उसके मन में चीज़ों के वे रूप उभरते हैं, जिन्हें कागज़ पर, कपड़े पर, या लकड़ी-लोहे पर उतारना, उसके वश की बात है। केवल बड़े साधन उसके वश के नहीं हैं।

उसने टैक्स्टाइल के अत्यन्त सुन्दर डिज़ाइन बनाए थे। मैं उन्हें देखती थी तो कहती थी—'यह अगर सचमुच काग़ज़ों से उतरकर दो-दो गज़ के कपड़ों पर आ जाएं तो सारे हिन्दुस्तान की लड़कियां परियां बन जाएं···'

यह डिज़ाइन काग़ज़ों पर बनाना उसके बस में था, उसने बना लिये, पर इन्हें कपड़ों पर उतारने के लिए एक मिल की आवश्यकता थी। हमारे मुल्क की ग़रीबी यह नहीं है कि उसके पास मिलें नहीं हैं, ग़रीबी यह है कि मिलवालों के पास दृष्टि नहीं है। ये डिज़ाइन दो बार दो मिल-मालिकों को दिखाए थे, पर अनुभव यह हुआ कि वे लोग, आईन रैंड के उस वाक्य के अनुरूप हैं जो ऐसे लोगों के लिए उसने उनके भाग्य के समान ही लिखा था—पर्फ़ेक्ट ईडियट्स।

वास्तव में इसी विवशता के कारण इमरोज़ ने बाटिक का माध्यम सोचा था, कि कुछ डिज़ाइन मिलों की मोहताजी से मुक्त होकर कपड़ों का शरीर छू सकें।

यह और बात है कि यह काम जब तक कारीगरों के हाथ में रहा, वर्णन-योग्य नहीं था, पर जब अन्त में इमरोज़ ने उसका सारा अमल अपने हाथ में ले लिया, कुछ चीज़ें ऐसी तैयार हुईं कि आंख हटाए नहीं हटती थी। पर ऐसी चीज़ों के लिए कुछ जापानियों और अमरीकनों के सिवाय कोई खरीदार नहीं था। और साथ ही यह भी था कि यह हुनर जब इस शिखर पर पहुंचा, तो दो गज़ कपड़ा ख़रीदने के लिए भी पैसे नहीं रह गए थे।

यह साधारण-सा माध्यम भी पहुंच के बाहर हो गया, तो इस तजुर्बे का सिलसिला ख़त्म हो गया। फिर धीरे-धीरे वे तजुर्बे अस्तित्व में आए जिनके लिए एक बार में सौ-पचास रुपयों से अधिक की आवश्यकता नहीं होती थी। इमरोज़ ने घड़ियों के डायल डिज़ाइन करने शुरू किए। जब चालीस-पचास रुपये इकट्ठे हो जाते वह एक घड़ी ख़रीद लाता और उसका डायल डिज़ाइन करता। आज भी हमारी एक अलमारी उन घड़ियों से भरी हुई है जिन्हें रोज़ चाबी देना मुमकिन नहीं है—पर कभी-कभी हम वह अलमारी खोलते हैं तो सारी घड़ियों को चाबी देकर उनकी टिक-टिक बेथोवन की सिम्फ़नी की तरह सुनते हैं…

घड़ियों में सदा 'एक समय' होता है, पर इमरोज़ ने 'दो समय' घड़ियों में पकड़ने चाहे। एक तो साधारण समय जो सूइयां बताती हैं, और दूसरा वह जो विश्व के कुछ कवि शब्दों में पकड़ते हैं। इसलिए इमरोज़ ने नम्बर वाले डायल निकालकर घड़ियों में वे डायल डाले जिन पर उसने विश्व के कवियों की वे पंक्तियां लिखी थीं जिनमें अनेक पल-छिन पकड़े हुए थे।

जो घड़ियां संभालकर रखी हुई हैं उनमें से किसी के डायल पर फ़ैज़ का शेर है, किसी पर क़ासमी का, किसी पर वारिस शाह का, किसी पर शिवकुमार का…

इसी तरह इमरोज़ के कुछ कैलेंडर-डिज़ाइन हैं। किसी की शकल चौकोर मेज़ के समान है जिस पर तारीख़ और वार शतरंज के मोहरों की तरह बिछे हुए हैं। किसी की शकल एक वृक्ष के समान है जिस पर तारीख और वार के हरे-हरे पत्ते लगे हुए हैं। किसी की शकल एक साज़ के समान है जिसके तार कसने वाली चाबियां बरस के महीने और वार हैं।

यह सब-कुछ अगर अपने देश में और विदेशों में दिखाया जा सकता तो हिन्दुस्तान का नाम अमीर हो सकता था। पर किसी सरकारी मशीनरी को चाबी दे सकना न मेरे वश की बात है, न इमरोज़ के।

जब कोई किसी का वर्तमान अपनाता है, तो वास्तविक अपनत्व में, उसका और दूसरे का अतीत भी, शामिल हो जाता है—अलग-अलग नहीं रह जाता—भले ही वह आंखों देखा नहीं होता, फिर भी वह अपने अस्तित्व का हिस्सा बन जाता है—अपने शरीर के किसी पुराने घाव की भांति।

इमरोज़ जानता है, मोहनसिंहजी के प्रति मेरे आदर में मेरी मुहब्बत

शामिल नहीं थी। एक वार जव उनकी किताव 'जंदरे' का वह कवर-डिज़ाइ वना रहा था, तो किताव की मुख्य कविता के अनुसार उसे टाइटिल के ऊपर दो ताले वनाने थे—मेरे दो वच्चे जो मोहनसिंह के विचार में दो फूलों के ताले थे— पर उसने टाइटिल पर तीन ताले वनाए। कहने लगा—'तीसरा सवसे वड़ा ताला तो ख़ुद वच्चों की मां थी, जो मोहनसिंह को दिखाई नहीं दिया। इसलिए मैंने अधूरी कविता को पूरा करने के लिए दो की जगह तीन ताले वना दिये हैं।'

और इमरोज़ जानता है, मैंने साहिर से मुहव्वत की थी। यह जानकारी अपने आप में वड़ी वात नहीं है, इससे आगे जो सचमुच वड़ा है वह इमरोज़ का मेरी असफलता को अपनी असफलता समझ लेना है।

इमरोज़ जव साहिर की किताव 'आओ कोई ख़्वाव वुनें' का टाइटिल वना रहा था तो काग़ज़ लिये हुए कमरे के वाहर आ गया। वाहर के कमरे में मैं और देविन्दर वैठे हुए थे। उसने टाइटिल दिखाया। देविन्दर ही एक दोस्त है जिससे मैं साहिर की वात कर लेती थी, इसलिए देविन्दर ने कुछ अतीत में उतरकर, एक वार टाइटिल की ओर देखा, एक वार मेरी ओर। पर मुझसे, और देविन्दर से भी, कहीं अधिक इमरोज़ ने मेरे अतीत में उतरकर कहा—'साला ख़्वाव वुनने की वात करता है, वनने की नहीं।'

मैं हंस पड़ी—'साला जुलाहा, सारी उम्र ख़्वाव वुनता ही रहा, किसी का ख़्वाव न वना।'

मैं, देविन्दर, इमरोज़ कितनी ही देर तक हंसते रहे—उस दर्द के साथ जो ऐसे अवसर पर ऐसी हंसी में शामिल होता है।

कभी हैरान हो जाती हूं—इमरोज़ ने मुझे कैसा अपनाया है, उस दर्द के समेत जो उसकी अपनी ख़ुशी का मुख़ालिफ़ है…

एक वार मैंने हंसकर कहा था, 'ईमू! अगर मुझे साहिर मिल जाता, तो फिर तू न मिलता'—और वह मुझे, मुझसे भी आगे, अपनाकर कहने लगा, 'मैं तो तुझे मिलता ही मिलता—भले ही तुझे साहिर के घर नमाज़ पढ़ते हुए ढूंढ लेता!'

सोचती हूं—क्या कोई ख़ुदा इस जैसे इन्सान से कहीं अलग होता है…

इमरोज़ अगर ऐसा न होता जैसा है तो मैं उसकी ओर देखकर यह शेर कभी न लिख सकती—'वाप वीर दोस्त ते ख़ाविन्द, किसे लफ़्ज़ दा कोई नहीं रिश्ता, उंज जदों मैं तैनूं तक्किया—सारे अक्खर गूढ़े हो गये।'[1]

इमरोज़ के पास मेरे कई पत्र हैं, पर इनमें से एक मेरे मन का चित्रण करने

---

१. पिता, भाई, मित्र, और पति—किसी शब्द का कोई रिश्ता नहीं। पर जव तुझे देखा, ये सारे अक्षर गाढ़े हो गए।

वाला वह पत्र मिलता है जो मैंने अगस्त १९६७ में उसे यूगोस्लाविया से लिखा था—.

"ईमवा ! यथार्थ की सीमाबन्दी से घबराकर पायी हुई एक वस्तु होती है—फ़ैन्टेसी ! पर सोचती हूं, जो स्थिरता से प्राप्त किया जाता है वह फ़ैन्टेसी के आगे होता है। इसलिए तेरा ज़िक्र उससे आगे है—वियान्ड फ़ैन्टेसी !

"हेनरी मिलर के शब्दों में सारे आर्ट एक दिन समाप्त हो जाएंगे, पर आर्टिस्ट अवश्य रहेंगे, और ज़िन्दगी 'एक आर्ट' नहीं होगी, 'आर्ट' होगी। अगर यह मान लिया जाए कि हेनरी मिलर का यह कल्पित समय एक हज़ार वर्ष बाद आ जाएगा तो यह कहूंगी कि समय से एक हज़ार साल पहले पैदा हो जाना तेरा क़ुसूर है। यह हर उस व्यक्ति का क़ुसूर है जो सिर से पैर तक जीता है। इस दुनिया में अभी लोग इस तरह के नहीं होते। हर व्यक्ति का आधा कुछ जन्म लेता है, आधा मां की कोख में ही मर जाता है। हर मनुष्य अभी अपना बहुत-सा भाग कोख की क़ब्र में दफ़न करके जन्म लेता है, और उसके लिए किसी पूर्ण मनुष्य को देखने से बढ़कर और कोई दुखदायी बात नहीं होती। सो इस दुनिया की तेरे प्रति उदासीनता स्वाभाविक है—या ऐसे कहूं कि हर वर्तमान की जड़ें केवल अतीत में होती हैं, पर तेरे जैसे उस व्यक्ति का क्या हो जिसके वर्तमान की जड़ें केवल भविष्य में हैं। अगर एक हज़ार साल बाद छपने वाले किसी अखबार की प्रति मैं आज बाज़ार में ख़रीद सकूं तो मुझे विश्वास है कि मैं उसमें तेरे कमरे में बन्द पड़ी हुई तेरी कलाकृतियों का विवरण पढ़ सकती हूं···

"'पर्फ़ेक्शन' जैसा शब्द तेरे साथ नहीं जोड़ूंगी। यह एक ठंडी और ठोस-सी वस्तु का आभास देता है, और यह आभास भी कि इसमें से न कुछ घटाया जा सकता है, न बढ़ाया जा सकता है। पर तू एक विकास है, जिससे नित्य कुछ झड़ता है, और जिस पर नित्य कुछ उगता है। पर्फ़ेक्शन शब्द एक गिरजाघर की दीवार पर लगे हुए ईसा के चित्र के समान है—जिसके आगे खड़े होने से बात ठहर जाती है। पर तुझसे बात करने से बात चलती है—एक सहजता के साथ—जैसे एक सांस में से दूसरा सांस निकलता है। तू जीती हुई हड्डियों का ईसा !

'एक पराये देश से तुझे पत्र लिखते हुए याद आया है कि आज पन्द्रह अगस्त है—हमारे देश की स्वतन्त्रता का दिन। अगर कोई इन्सान किसी दिन का चिह्न बन सकता हो तो कहना चाहूंगी कि तू मेरा पन्द्रह अगस्त है, मेरे अस्तित्व की और मेरे मन की अवस्था की स्वतन्त्रता का दिन !

अमृता

दुब्रोवनिक (यूगोस्लाविया)

एक सिलसिला

५ फ़रवरी, १९७२ के 'स्टेट्स' में मैंने एक लेख लिखा था : 'एक रोमानियन कविता में एक कवि पड़ोसियों से कुर्सियां मांगकर ले आता है, और खाली कुर्सियों को अपनी कविताएं सुनाता है। सोचता है कि खाली कुर्सियां सबसे अच्छी श्रोता होती हैं। उनमें न उत्साह का दिखावा होता है, न वे कविताओं को सेन्सर करती हैं।' पर इस प्रकार के अहं से वंचित हमारे कितने लेखक हैं जो केवल 'कुर्सियों' के पीछे दौड़ रहे हैं। स्थापना के हॉल कमरों में 'कल्चरल फ़र्नीचर' बनाना उनकी अन्तिम मंज़िल प्रतीत होती है।' और इसी लेख के आगे के भाग में कुछ पंक्तियां इस प्रकार थीं—'पर वास्तविक लेखक अपने पाठकों की रगों में जीता है, उनके स्वप्नों में, और उनके जीवन के अंधेरे कोनों में...'

यह सब-कुछ लिखते समय इसमें एक नई उदासी यह भी शामिल थी कि साहित्य अकादमी के अवार्ड के लिए एक या दो वोटों के आधार पर रिकमंड हुई एक समकालीन की किताब थी, जिसे पढ़ा तो लगा कि इस किताब को अवार्ड मिलना न लेखक के साथ न्याय होगा, न पंजाबी साहित्य के साथ। इसलिए मैंने अपना अन्तिम वोट इस किताब को नहीं दिया। और इस कारण से मेरे समकालीन ने मुझसे नाराज़ होकर चंडीगढ़ में जो पेपर पढ़ा था उसमें मे नाविलों को 'नावलचू' कहकर और कविताओं को 'नक़ल' कहकर जी भरकर निंदा की थी।

पर इस वर्ष के मध्य में इस बात का और भी हास्यास्पद रूप देखने में आया— जब जुलाई के अन्तिम सप्ताह में एक और समकालीन के घर बैठकर उस समकालीन ने शराब का प्याला हाथ में लेकर ख़ुशी से नाचते हुए कहा : 'आ गई, बीबी क़ाबू में आ गयी...आ गयी, बीबी क़ाबू में आ गयी...तीन साल के लिए क़ाबू में आ गयी...' और उसने सामने बैठे एक और समकालीन को बताया—'मैं भारतीय ज्ञानपीठ कमेटी में आ गया हूं, अब तीन साल तो बीबी को अवार्ड लेने नहीं देता...' और पास बैठे एक और मेहरबान समकालीन ने उसके स्वर में स्वर मिलाया—'आ गयी बीबी क़ाबू में आ गयी...पांच साल के लिए क़ाबू में आ गयी...'और उसने बताया कि 'साहित्य अकादमी की एक्ज़िक्यूटिव में होने का यह अमृता का आख़िरी साल है, अगले पांच सालों के लिए नया चुनाव होगा, हम अमृता को अकादमी के पास नहीं फटकने देंगे...'

मैं वहां होती तो एक से 'अकादमी मुबारक' और दूसरे से 'ज्ञानपीठ की

मेम्बरी मुबारक' कहती, पर वहां केवल मोहनसिंह था जिसने इस जैसी बचकाना हरकतों को केवल उदासी के साथ देखा और सवेरे मेरे घर आकर मुझे उदासी के साथ सुना गया।

इनामों और रुतवों की तेज़ रोशनी में खड़े हुए वे लोग खामखाह हवा में तलवारें मार रहे हैं। मैं वहां नहीं हूं। कभी भी नहीं थी, न कभी होऊंगी। एक ही तमन्ना थी कि मैं अपने दिल और अपने पाठकों के दिल के एक कोने में रहूं, जहां तक भी जा सकी हूं—सिर्फ़ वहां हूं—सिर्फ़ वहां···

इस वर्ष के अन्त में फिर वैसे ही दिन आए। चंडीगढ़ से एक समकालीन का टेलीफ़ोन आया—

'इस बार किस किताब को वोट देनी है?'

'जो आपको अवार्ड के योग्य लगती है, उसे दे दीजिये!'

'उसे, जिसने लेनिन पर किताब लिखी है?'

'लेनिन पर उसकी किताब बहुत घटिया है।'

'हां, घटिया तो है, पर वह बूढ़ा हो गया है, उसे अवार्ड मिल जाना चाहिए।' और उसने मुझसे पूछा कि मेरी दृष्टि में मिगार के अनुसार किसे अवार्ड मिलना चाहिए?

मियार के अनुसार, सामने आयी हुई नौ किताबों में केवल एक किताब थी 'तीन रातें' जिसके पहले भाग में क़िस्सों की पुरानी परम्परा को नए सिरे से उज्जीवित किया गया था, और दूसरे भाग में आज की कहानी और आज के गद्य के उत्तम प्रमाण मिलते थे, इसलिए अपनी राय, जिस ईमानदारी से सोची थी, उसी ईमानदारी से बता दी—और मेरे समकालीन का टेलीफ़ोन बन्द हो गया।

फिर औरों से सुना कि तीसरी राय का बन्दोबस्त कर लिया जाएगा, और उन दो रायों को मिलाकर मेरी राय को रद्द कर दिया जाएगा।

मियार के संबंध में किसी की राय भिन्न हो सकती है, पर यहां मियार का प्रश्न नहीं था, यहां ज़िद का प्रश्न था। सो ज़िद पूरी की गयी और अवार्ड का इंतज़ाम कर लिया गया।

पहली जनवरी १९७३ के दिन, साहित्य अकादमी की एक्ज़ीक्यूटिव सदस्या के पद से, पांच साल के बाद, निवृत्त हुई हूं। किसी ज़िम्मेदारी से निवृत्त होना भले ही 'मुक्ति' शब्द के साथ नहीं जोड़ा जा सकता, पर अनुभूति अवश्य मुक्ति के समान ही है, इससे इनकार नहीं कर सकती।

इन वर्षों में जब सिफ़ारिशों के फ़ोन आते थे, या घर की घंटियां बजती थीं, हंसकर इमरोज़ से कहा करती थी, 'सबको यह समझा दो कि पांच बरस के लिए मैं घर पर नहीं हूं।' पर इस अन्तिम वर्ष सिफ़ारिश के साथ किसी के हाथ किसी की धमकी भी आयी कि अगर उसे अकादमी का अवार्ड नहीं मिला तो वह जी

एक सिलसिला

५ फ़रवरी, १६७२ के 'स्टेट्स' में मैंने एक लेख लिखा था : 'एक रोमानियन कविता में एक कवि पड़ोसियों से कुर्सियां मांगकर ले आता है, और खाली कुर्सियों को अपनी कविताएं सुनाता है। सोचता है कि खाली कुर्सियां सबसे अच्छी श्रोता होती हैं। उनमें न उत्साह का दिखावा होता है, न वे कविताओं को सेन्सर करती हैं।' पर इस प्रकार के अहं से वंचित हमारे कितने लेखक हैं जो केवल 'कुर्सियों' के पीछे दौड़ रहे हैं। स्थापना के हॉल कमरों में 'कल्चरल फ़र्नीचर' बनाना उनकी अन्तिम मंजिल प्रतीत होती है।' और इसी लेख के आगे के भाग में कुछ पंक्तियां इस प्रकार थीं—'पर वास्तविक लेखक अपने पाठकों की रगों में जीता है, उनके स्वप्नों में, और उनके जीवन के अंधेरे कोनों में...'

यह सब-कुछ लिखते समय इसमें एक नई उदासी यह भी शामिल थी कि साहित्य अकादमी के अवार्ड के लिए एक या दो वोटों के आधार पर रिकमंड हुई एक समकालीन की किताब थी, जिसे पढ़ा तो लगा कि इस किताब को अवार्ड मिलना न लेखक के साथ न्याय होगा, न पंजाबी साहित्य के साथ। इसलिए मैंने अपना अन्तिम वोट इस किताब को नहीं दिया। और इस कारण से मेरे समकालीन ने मुझसे नाराज़ होकर चंडीगढ़ में जो पेपर पढ़ा था उसमें मेरे नाविलों को 'नावलचू' कहकर और कविताओं को 'नक़ल' कहकर जी भरकर निंदा की थी।

पर इस वर्ष के मध्य में इस बात का और भी हास्यास्पद रूप देखने में आया—जब जुलाई के अन्तिम सप्ताह में एक और समकालीन के घर बैठकर उस समकालीन ने शराब का प्याला हाथ में लेकर खुशी से नाचते हुए कहा : 'आ गई, बीबी क़ाबू में आ गयी...आ गयी, बीबी क़ाबू में आ गयी...तीन साल के लिए क़ाबू में आ गयी...' और उसने सामने बैठे एक और समकालीन को बताया—'मैं भारतीय ज्ञानपीठ कमेटी में आ गया हूं, अब तीन साल तो बीबी को अवार्ड लेने नहीं देता...' और पास बैठे एक और मेहरबान समकालीन ने उसके स्वर में स्वर मिलाया—'आ गयी बीबी क़ाबू में आ गयी...पांच साल के लिए क़ाबू में आ गयी...'और उसने बताया कि 'साहित्य अकादमी की एक्जिक्यूटिव में होने का यह अमृता का आखिरी साल है, अगले पांच सालों के लिए नया चुनाव होगा, हम अमृता को अकादमी के पास नहीं फटकने देंगे...'

मैं वहां होती तो एक से 'अकादमी मुबारक' और दूसरे से 'ज्ञानपीठ की

मेम्बरी मुबारक' कहती, पर वहां केवल मोहनसिंह था जिसने इस जैसी बचकाना हरकतों को केवल उदासी के साथ देखा और सवेरे मेरे घर आकर मुझे उदासी के साथ सुना गया।

इनामों और रुतबों की तेज़ रोशनी में खड़े हुए वे लोग खामखाह हवा में तलवारें मार रहे हैं। मैं वहां नहीं हूं। कभी भी नहीं थी, न कभी होऊंगी। एक ही तमन्ना थी कि मैं अपने दिल और अपने पाठकों के दिल के एक कोने में रहूं, जहां तक भी जा सकी हूं—सिर्फ़ वहां हूं—सिर्फ़ वहां···

इस वर्ष के अन्त में फिर वैसे ही दिन आए। चंडीगढ़ से एक समकालीन का टेलीफ़ोन आया—

'इस बार किस किताब को वोट देनी है ?'

'जो आपको अवार्ड के योग्य लगती है, उसे दे दीजिये !'

'उसे, जिसने लेनिन पर किताब लिखी है ?'

'लेनिन पर उसकी किताब बहुत घटिया है।'

'हां, घटिया तो है, पर वह बूढ़ा हो गया है, उसे अवार्ड मिल जाना चाहिए।' और उसने मुझसे पूछा कि मेरी दृष्टि में मिग़ार के अनुसार किसे अवार्ड मिलना चाहिए ?

मियार के अनुसार, सामने आयी हुई नौ किताबों में केवल एक किताब थी 'तीन रातें' जिसके पहले भाग में क़िस्सों की पुरानी परम्परा को नए सिरे से उज्जीवित किया गया था, और दूसरे भाग में आज की कहानी और आज के गद्य के उत्तम प्रमाण मिलते थे, इसलिए अपनी राय, जिस ईमानदारी से सोची थी, उसी ईमानदारी से बता दी—और मेरे समकालीन का टेलीफ़ोन बन्द हो गया।

फिर औरों से सुना कि तीसरी राय का बन्दोबस्त कर लिया जाएगा, और उन दो रायों को मिलाकर मेरी राय को रद्द कर दिया जाएगा।

मियार के संबंध में किसी की राय भिन्न हो सकती है, पर यहां मियार का प्रश्न नहीं था, यहां ज़िद का प्रश्न था। सो ज़िद पूरी की गयी और अवार्ड का इंतज़ाम कर लिया गया।

पहली जनवरी १९७३ के दिन, साहित्य अकादमी की एक्ज़ीक्यूटिव सदस्या के पद से, पांच साल के बाद, निवृत्त हुई हूं। किसी ज़िम्मेदारी से निवृत्त होना भले ही 'मुक्ति' शब्द के साथ नहीं जोड़ा जा सकता, पर अनुभूति अवश्य मुक्ति के समान ही है, इससे इनकार नहीं कर सकती।

इन वर्षों में जब सिफ़ारिशों के फ़ोन आते थे, या घर की घंटियां बजती थीं, हंसकर इमरोज़ से कहा करती थी, 'सबको यह समझा दो कि पांच बरस के लिए मैं घर पर नहीं हूं।' पर इस अन्तिम वर्ष सिफ़ारिश के साथ किसी के हाथ किसी की धमकी भी आयी कि अगर उसे अकादमी का अवार्ड नहीं मिला तो वह जी

भरकर मेरे विरुद्ध लिखेगा।

सो, सदस्यता का यह अन्तिम वर्ष बीतने के बाद आज पहली जनवरी के दिन मुक्ति की अनुभूति हो रही है। आज वर्ष का पहला दिन जैसे इस स्वतन्त्रता के लिए मुझे 'साल-मुबारक' कह रहा है !

ऐसी घटनाओं का सिलसिला बहुत लम्बा है। जब कभी पंजाबी कविता या पंजाबी कहानी का चुनाव करती हूं, धमकियां आती हैं—'अगर अमुक की कविता या कहानी सम्मिलित न हुई, तो अमुक पत्रिका का एक विशेष अंक तुम्हारे विरुद्ध निकाला जाएगा···' विशेष अंक संभव नहीं हो सकते तो लेख तो हो ही सकते हैं, और वे प्राय: छपते रहते हैं···

इसी प्रकार पंजाब के अनेक समकालीनों को भ्रम है कि टेलीविज़न पर सब कुछ मेरी सलाह से होता है, मुझसे पूछकर। वे दो-चार बार फ़ोन करते हैं कि अगली बार उनकी कविताएं होनी चाहिए। बताने की कोशिश करती हूं कि मेरा इससे कोई संबंध नहीं है, पर दो-तीन महीनों के बाद फ़ोन करने वालों का कोई लेख छपा हुआ नज़र आ जाता है, या टेलीविज़न विभाग को और मिनिस्टरों को लिखी हुई मेरे विरोध की चिट्ठियां सुनने में आ जाती हैं।

सचमुच बहुत लम्बा सिलसिला है···गिनने लगो तो खत्म नहीं होता···हां, मेरी लिखत की 'पोर्नोग्राफ़ी' वाली घटना बड़ी दिलचस्प है। १९७० की एशियन राइटर्स कांफ्रेंस के अवसर पर मुझे उसकी स्वागत समिति की अध्यक्षा चुनने के बाद कोई 'ऊपर से' दबाव आया था जिसके कारण एक स्क्रीनिंग कमेटी बनाकर मेरी कविताओं में 'पोर्नोग्राफ़ी' खोजी गयी···और मालूम हुआ—१९६८ में मैंने चेकोस्लोवाकिया के बारे में जो कविताएं लिखी थीं, वे पोर्नोग्राफ़ी थीं···

पोर्नोग्राफ़ी की यह व्याख्या शायद विश्व के साहित्य में और कहीं नहीं मिलेगी···

अखबारों की अजीब टिप्पणियां

दिल्ली विश्वविद्यालय की ओर से १५ मई, १९७३ को डी० लिट्० की ऑनरेरी डिग्री मिली थी। जिन्हें भी मिली थी, उन्हें कुछ शब्द कहने थे, मैंने भी कहे। पर दूसरे दिन 'टाइम्स ऑफ़ इंडिया' का एक कमेण्ट बहुत अजीब था—मेरे संबंध में, और शुभलक्ष्मी के संबंध में, कि वे दोनों खुशी की 'उछाल' में गाने लगीं। मैंने जो कुछ कहा था, अभी याद है, अक्षरश: यहां लिख रही हूं—केवल उस कमेण्ट का उत्तर देने के लिए :

"कुछ देर हुई एक कविता लिखी थी—अक्षर। उस कविता की कुछ पंक्तियां हैं—

'इक्क पत्थरां दा नगर सी
सूरजवंश दे पत्थर
ते चंदर वंश दे पत्थर
उस नगर विच्च रहन्दे सन
ते कहन्दे हन—
इक्क सी सिला ते इक्क सी पत्थर
ते उहनां दा उस नगर विच्च संजोग लिखिया सी
ते उहनां ने रल के इक्क वर्जत फल चखिया सी
ओह खौरे चकमाक पत्थर सन—
जो पत्थरां दी सेज ते सुत्ते—
तां पत्थरां दी रगड़ विच्चों—
मैं अग्ग वांग जम्मी अग्ग दी रुत्ते।
फेर वगदीआं पौणां मैंनू जित्थे वी खड़दीआं
तत्तिआं सुआहवां मेरे पिंडे तों झड़दियां।
फेर उहिओ हवा कितों दौड़दी आई
ते हत्थां दे विच कुझ अक्खर ले आई
ते कहिण लग्गी—
'एह निक्कियां कालिआं लीकां ना जाणीं
एह लीकां दे गुच्छे तेरी अग्ग दे हाणी'
ते इस तरहां कहिन्दी ओह लंघ गई अग्गे
'तेरी अग्ग दी उमरा एहनां अक्खरां नूं लग्गे'"[1]

---

१. एक पत्थरों का नगर था
सूर्यवंश के पत्थर
और चन्द्रवंश के पत्थर
उस नगर में रहते थे—
और कहते हैं
एक थी शिला और एक था पत्थर
और उनका उस नगर में संयोग लिखा था
और उन्होंने मिलकर एक वर्जित फल चखा था
वह न जाने चकमाक पत्थर थे
जो पत्थरों की सेज पर सोए

मैंने ज़िन्दगी में अगर कोई तमन्ना की है तो केवल यह कि मेरी आग की उम्र इन अक्षरों को लग जाए। आज आपने, दिल्ली यूनिवर्सिटी ने, इन अक्षरों को पहचाना है, इनकी आग को पहचाना है, और इस पहचान के लिए मैं अक्षरों की इस आग की ओर से आपका शुक्रिया अदा करती हूं।"

धर्म-युद्ध

महाभारत का सबसे महान् भाग मुझे वह लगता है जहां कौरवों और पांडवों का युद्ध छिड़ने लगता है तो युधिष्ठिर रणक्षेत्र को अकेले और पैदल पार करके सामने शत्रु-सेना में खड़े हुए अपने सगे-संबंधियों से युद्ध करने की आज्ञा लेने जाता है।

वह शत्रु-सेना में खड़े हुए भीष्म पितामह को प्रणाम करता है, कहता है—'मुझे आपसे युद्ध करना है, युद्ध की आज्ञा दीजिये, और विजय का आशीर्वाद दीजिये।'

भीष्म पितामह उत्तर देते हैं, 'इस युद्ध में मेरा यह शरीर तो दुर्योधन की ओर ही रहेगा क्योंकि उसका अन्न खाया है, पर धर्म से युक्त मन तुम्हारी ओर रहेगा, तुम्हारी मंगल-कामना करेगा, तुम्हारी विजय की आकांक्षा करेगा।'

युधिष्ठिर ने इसी प्रकार गुरु द्रोणाचार्य को भी प्रणाम किया, कृपाचार्य को भी। मैंने अपने समकालीनों से अपनी इस आयु जितनी लम्बी जंग लड़ी है, अब इस किताब में उनके संबंध में जो भी लिखने जा रही हूं उनकी लेखनियों का आदर

तो पत्थरों की रगड़ से
मैं आग की तरह जन्मी आग की ऋतु में
फिर बहती हवाएं मुझे जहां भी ले जातीं
गर्म-गर्म राख मेरे शरीर से झड़ती
फिर वही हवा कहीं से दौड़ती आयी
और हाथों में कुछ अक्षर ले आयी
—और कहने लगी—
'इन्हें छोटी काली लकीरें न समझना
यह लकीरों के गुच्छे तेरी आग के समर्थ हैं—,
और यह कहते हुए वह आगे बढ़ गयी—
'तेरी आग की उम्र इन अक्षरों को लग जाए।'

करते हुए, उन्हीं से इस शुभेच्छा की कामना करती हूं कि सिद्धान्तों की इस जंग का हाल पूरी तरह लिख सकूं।

महाभारत के इसी भाग में युधिष्ठिर ने चारों ओर की सेना के मध्य खड़े होकर कहा था, 'जो बहादुर मेरी सहायता के लिए मेरी सेना में आना चाहता है उसका स्वागत है' और यह सुनकर दुर्योधन का छोटा भाई युयुत्स आगे बढ़ा था। इतिहास स्वयं को दोहराता है—आज वही शब्द नये लेखकों के लिए दोहराती हूं कि जो भी सिद्धान्तों की लड़ाई लड़ना चाहता है, उसका स्वागत है!

यह युद्ध जारी रहेगा—मुझ तक, मेरे बाद भी और केवल आज की ही नहीं, आनेवाली पीढ़ियों में से भी जो कोई लेखनी के सत्य के पक्ष में आना चाहेगा, समय उसका स्वागत करेगा।

मिथक में जैसे अनेक चेहरे अज्ञात चेहरों का रूप धारण करके किसी को छलते पाए जाते हैं, जीवन में भी अनेक विश्वास और अनेक आशाएं छलावा बन जाती हैं।

साहित्यिक जगत् में सन्तसिंह सेखों के संबंध में मेरी पहले दिन से यह धारणा थी कि एक आलोचक के नाते उसका उत्तरदायित्व और ईमानदारी जैसे बुनियादी मूल्यों से सर्वथा कोई संबंध नहीं है। जैसे-जैसे वर्ष बीतते गए, मेरी राय बहुत ही सत्य सिद्ध होती गयी। मोहनसिंह जी के संबंध में मेरी राय थी कि वह अच्छे [illegible]वि होने के साथ एक नेक-दिल व्यक्ति भी हैं, किन्तु दुर्बल हैं, मूल्यों-मानों के लिए [illegible] वाले नहीं हैं। मेरा यह विचार भी कालान्तर में ठिक सिद्ध हुआ। [illegible]तेजसिंह के संबंध में मेरा लेख 'मेरा दोस्त : मेरा हमदम' और [illegible] दुग्गल के संबंध में मेरा लेख 'ठंडा दस्ताना' उनके लिए मेरे समकालीन-[illegible]ते-देखते झूठे सिद्ध हो गए। पहला लेख एक विश्वास से और दूसरा [illegible]एक आशा के साथ लिखा था, पर मेरा विश्वास भी मुझे छल गया, मेरी आशा भी मुझे छल गयी।

हरिभजनसिंह से आस जोड़ी थी, पर बहुत नहीं। उसने जब अपने अनुयायियों से मेरे संबंध में घटिया लेख लिखवा-लिखवाकर उनमें एक प्रकार का आनन्द लेना आरंभ कर दिया, मुझे अधिक आश्चर्य नहीं हुआ, केवल तरस आया कि वह अपने अन्तर के कवि के व्यक्तित्व को अपने हाथों मैला कर रहा है।

और जो, साधूसिंह हमदर्द या अन्य कई एक—अपने मन की तंग गलियों में भटकते हुए—जो कुछ भी कर रहे है, उनसे मेरा कुछ कहीं जुड़ा हुआ नहीं है, न कोई विश्वास, न कोई आशा—इसलिए न उसके लिए आश्चर्य होता है, न पीड़ा। गुरबचनसिंह भुल्लर ने जब मेरे और हरिभजनसिंह के विरुद्ध एक कहानी गढ़ी जो सर्वथा झूठ पर आधारित थी, तो इस तमाशे को देखकर केवल ग्लानि से मुंह परे कर लिया। यह कहानी 'प्रीतलड़ी' के मई १९७३ के अंक में छपी थी।

उसी महीने की १५ तारीख को दिल्ली विश्वविद्यालय की ओर से डी० लिट्० की ऑनरेरी डिग्री मिली थी, दोस्तों और पाठकों के पत्र आ रहे थे—और इनमें एक पत्र गुरबख्शसिंहजी का भी मिला।

अपने साहित्यिक जीवन के आरंभिक वर्षों में मैंने गुरबख्शसिंह जी के साथ आदर्श जैसे शब्द को भी जोड़ा था, और मन के गहरे आदर को भी। और इसके साथ इस आशा को भी कि अब मूल्यों-मानों की रक्षा उनके ज़िम्मे है। उनके बुज़ुर्ग हाथ के होते हुए, मुझ जैसे नये साहित्यकारों को कीचड़ से भरी गलियों में से गुज़रना कुछ आसान हो जाएगा। पर देखा यह कि बहुत शीघ्र ही इस सब कुछ से वे बे-वास्ता हो गए थे। ठीक है—अपने रास्ते पर अपने पांवों से चलना था, इसलिए मन में किसी प्रकार की कोई शिकायत नहीं आने दी थी—न शिकायत, न आशा—पर उनके लिए कुछ आदर का रिश्ता मैंने अपने मन में सदा बनाए रखा था। उनकी जीवनी में अपने बारे में कुछ अच्छी पंक्तियां पढ़कर एक पत्र भी लिखा था—'आपकी पंक्तियों को मैंने सिरोपा के समान धारण किया है' और उत्तर में उनका भी मीठा-सा पत्र आया था।

पर जब 'प्रीतलड़ी' ने मेरे खिलाफ़ कहानी छापी, तो इमरोज़ को भ्रम की एक जगह दिखाई दी जहां खड़े होकर उसने सोचा—'हो सकता है कहानी छपने से पहले गुरबख्शसिंह जी ने न पढ़ी हो। और इसका चुनाव केवल नवतेजसिंह ने किया हो।' सो, उसने उस दिन एक पत्र गुरबख्शसिंह जी को लिख दिया—

"सिर्फ़ सरदार गुरबख्शसिंह जी के नाम !

मई की 'प्रीतलड़ी' पढ़ी। हैरान हूं कि 'कसवट्टी' जैसी कहानी आपने कैसे छाप दी, जो कहानी के तौर पर भी बुरी है, और जिस नीयत से लिखी गई है, वह भी बुरी है। यह झूठी कहानी है। अमृता को इस प्रकार की रचनाओं से कोई अन्तर नहीं पड़ता। पर जिस पत्रिका में ऐसी रचना छपती है, उस पत्रिका के बारे में, और उसके संपादकों के बारे में अपने दृष्टिकोण में अवश्य अन्तर पड़ जाता है। वैसे तो पंजाबी की बहुत-सी पत्रिकाएं हर महीने अकसर ऐसी रचनाएं लिख-लिखकर, छाप-छापकर, कागज़ और अक्षर मैले करती ही रहती हैं। लगता है कि आपने यह कहानी छापने से पहले पढ़ी नहीं। और अगर सच में नहीं पढ़ी, तो आपने हमारे साथ और अपनी पत्रिका के साथ बुरा किया है। एक बुरी कहानी की तरह। 'प्रीतलड़ी' को घटिया और स्कैंडलस पत्रिकाओं की पंक्ति में खड़ा करके आपने अपने आपसे भी अच्छा नहीं किया है।

एक शिकायत के साथ, एक मान के साथ—

आपका

२१.५.७३

इमरोज़"

उसी शाम को एक संयोग घटा, कि अवतार जंडियालवी को, जो लन्दन से आए थे, कनॉट प्लेस में इमरोज़ से मिलना था। फ़ोन पर साढ़े छह का समय दिया हुआ था। मुझे सात बजे हैदराबाद से आयी हुई लेखिका जीलानी बानो से वैस्टर्न कोर्ट में मिलना था, इसलिए इमरोज़ के साथ ही चली गयी। अवतार जंडियालवी ठीक समय पर आ गया, पर उसके साथ हरिभजनसिंह भी था। अवतार ने चाय पीने के लिए कहा, सो अवतार, हरिभजन, इमरोज़ और मैं रैंवल में जाकर ठंडी कॉफ़ी पीने लगे। सब बातें कर रहे थे, पर ऊपरी-ऊपरी। बातों का कुछ रुख बदलने के लिए मैंने हरिभजन से कहा, 'इस बार 'प्रीतलड़ी' ने बड़े प्यार से आपके ऊपर एक कहानी छापी है।'

हरिभजनसिंह ने सतही हंसी के साथ, 'वह आपके खिलाफ़ भी तो है।'

कहा—'मेरे तो हैं ही। पर मुझे तो ऐसी चीज़ें पढ़ने की अब आदत-सी हो गई है।' और मैंने हरिभजनसिंह की ओर देखा। देखने का अर्थ था—मुझे यह सहनशक्ति की आदत डालने वालों में आप भी शामिल हैं, आपका भी शुक्रिया।

कुछ देर बाद हरिभजनसिंह ने कहा—'पर नवतेज ने किस खयाल से छापी? कम से कम कहानी के तौर पर तो अच्छी होती। बेचारे पाठकों को क्या मिला?'

जवाब दिया—'बेचारे पाठकों की क़ीमत पर दो जनों ने स्वाद ले लिया—एक लिखने वाले ने, एक छापने वाले ने।'

हरिभजनसिंह ने कुछ देर चुप रहने के बाद अचानक कहा, 'सिर्फ़ दो आदमियों ने ही नहीं, मैंने भी कुछ लज़्ज़त ली है—यह कि भुल्लर अब ऐसी खराब कहानियां लिखने वाला हो गया है।'

'पर मुझे इस बात का दुःख है। 'ऊपरा मर्द' जैसी अच्छी कहानी लिखने वाला भुल्लर अब इस जैसी बुरी कहानी लिखने लगा है, यह दुःख की बात है।' मुझे ऐसा ही लगा था, कह दिया।

और फिर रैंवल से उठकर, जब मैं और इमरोज़ एकान्त में हुए तो इमरोज़ से कहा—'बस, यही खराब पहलू है हरिभजन का। आज सरल स्वभाव उसने जो कुछ कहा है, उससे वह अपने दोहरे व्यक्तित्व का भेद खोल गया है। एक अच्छे बन रहे लेखक का इस तरह गिर पड़ना उसे लज़्ज़त देता है। उसके मन में यह दर्द नहीं उठता कि हमारा एक कहानीकार खत्म हो गया…'

एक समय था—जब १९६० में मैं इमरोज़ का साथ चुनने के समय मन के संकट में थी। उस समय मैंने उस चेहरे का ध्यान किया जिसने मुझे जन्म दिया था, पर जो अब संसार में नहीं था, इसलिए उस आकृति को गुरबख़्शसिंह जी के चेहरे में देखने की चेष्टा की थी। पत्र लिखा था—

'जिस हस्ती को 'दार जी' कहकर पुकारती थी, वह आज संसार में

नहीं है। वह संबोधन आज आपके लिए प्रयोग कर रही हूं, आप एक-दो दिनों के लिए मेरे पास आइए, मैं मन के संकट में हूं।'

उस पत्र के शब्द अब मुझे ठीक याद नहीं हैं, पर उसका अभिप्राय बिलकुल यही था। परन्तु पत्र के उत्तर में गुरबख्शसिंह जी नहीं आए। खैर, मेरी उदासी ने ही मुझे बल दिया, और मैं अकेली ही उस संकट से गुज़र गयी।

पर जिस बचपन ने किसी व्यक्तित्व के प्रभाव को गहराई से स्वीकार किया हो, उसकी जवानी भी उस प्रभाव का कोई टुकड़ा गले से लगाकर रखती है। और फिर उसकी बढ़ती हुई उम्र भी उसे अपने अतीत की कमाई समझकर अपनी किसी जेब में डालकर रखती है। मैंने गुरबख्शसिंह जी के इस प्रभाव के कारण उनके पास से आने वाले पत्र की रूपरेखा की भी कल्पना कर ली थी। मेरे अनुमान से उनका पत्र इस प्रकार था—'प्रिय इमरोज़ ! मेरी 'प्रीतलड़ी' में ऐसी फ़ालतू कहानी छपने से भी तुम्हारा मान सम्पूर्ण रहा है, मैं तुम्हारे इस मान को प्यार भेजता हूं और जैसे तुम्हें लगा है कि यह कहानी छापने से पहले मैंने इसे पढ़ा नहीं था, वह ठीक लगा है। मुझ पर तुम्हारा विश्वास सच्चा है। यह कहानी अगर मैंने पढ़ी होती तो छपती नहीं।"

पर यह पत्र मेरी कल्पना में फूलों की भांति खिला और इसकी जगह जो पत्र आया, उसे पढ़कर इसका एक-एक अक्षर मुरझा गया।

मेरी समझ में एक लेखक की पहली निष्ठा अपनी लेखनी के मूल्यों-मानों के प्रति होती है, और बेटे-बेटियां चाहे कितने ही प्रिय हों, उनके प्रति यह ज़िम्मेदारी दूसरे स्थान पर होती है। पर गुरबख्शसिंह जी ने अपनी लेखनी के प्रति अपनी निष्ठा का हक अदा नहीं किया। मेरा दर्द यह था, वह कहानी मेरा दर्द नहीं थी।

गुरबख्शसिंह जी की ओर से इमरोज़ के पत्र का उत्तर आया, पर उनके इतने कमज़ोर उत्तर से उनके लिए मेरे आदर को भी एक बार शर्म आ गयी। उनके पत्र में बजाय कुछ अफ़सोस के लिखा था—'मैं सुझाव दूंगा कि आप इस कहानी को फिर पढ़ें।'

यद्यपि सच यह था कि उस कहानी के लेखक ने संपादक को पहले ही पत्र लिखा था कि यह कहानी दो समकालीनों के विरुद्ध है, पर यदि हिम्मत है तो छाप दीजिए। और संपादक ने यह 'हिम्मत' कर ली थी।

सो, जान-बूझकर छापी हुई कहानी के बारे में अब वह कह रहे थे कि वह अमृता के विरुद्ध नहीं है, और उस कहानी को फिर पढ़ने का सुझाव दे रहे थे...

मैं नहीं जानती किसी और भाषा में ऐसा होता है या नहीं पर पंजाबी प्रेस में यह निश्चित रूप से अवश्य होता है कि कोई भी खबर जैसे चाहें गढ़ी जा सकती है। जनवरी १९७५ में नागपुर में 'विश्व हिन्दी सम्मेलन' हुआ था। उसमें तीस देशों के सौ से अधिक प्रतिनिधियों ने भाग लिया था। उन्हें सम्मान देते हुए, इस सम्मेलन

की ओर से भारत की पन्द्रह भाषाओं के पन्द्रह लेखकों को भी सम्मानित किया गया था, जिनमें एक मैं भी थी, पंजाबी लेखिका होने के नाते। इस समाचार में भ्रम की कोई गुंजाइश नहीं थी। पर मेरे समकालीनों की एक पत्रिका ने लिखा, मुझे संबोधन करते हुए—'आपने विश्व हिन्दी सम्मेलन, नागपुर में हिन्दी लेखिका के तौर पर सम्मान लिया है जबकि आपकी हिन्दी में प्रकाशित सभी रचनाएं अनुवाद हैं, और आपने इस भेद को छिपाकर अपनी भाषा के साथ धोखा किया है।' बड़ी दिलचस्प बात यह है कि इस पत्रिका से जो लेखक संबंधित हैं वे दिल्ली विश्वविद्यालय में प्राध्यापक हैं। यदि ऐसे उत्तरदायित्वपूर्ण स्थान पर आसीन लोगों को सत्य की आवश्यकता नहीं है और यदि वे एक सीधे-सादे समाचार को इस प्रकार तोड़-मरोड़ सकते है तो साधारण प्रेस से क्या आशा की जा सकती है···

कम्यूनिस्ट प्रेस को आम लोगों के प्रेस के स्तर से ऊंचा समझना स्वाभाविक है, पर जन-आन्दोलन से संबंधित प्रेस, गंभीर और चिन्तनशील होने के स्थान पर इस प्रकार का है, इसकी एक भयानक मिसाल मेरे सामने है। १ अगस्त, १९७५ के दैनिक समाचार-पत्र 'लोक-लहर' में जिस प्रकार का गिरे हुए विचारों का लेख छपा, मेरा खयाल है दुनिया के किसी प्रेस में नहीं छप सकता। मेरी मासिक पत्रिका 'नागमणि' को लचर और अश्लील कहा गया, जिसका कारण यह दिया गया था कि चेकोस्लोवाकिया की दुर्घटना के समय मैंने कविताएं लिखी थीं और मुझे तीन रात नींद नहीं आयी थी···और यह लेख जितने भद्दे शब्दों में लिखा गया था, वह शायद दुनिया के किसी भी प्रेस में नहीं छप सकता।

सबसे अधिक उदास करने वाली बात यह है कि पंजाबी प्रेस के किसी भी कोने से इस प्रकार के सब-कुछ के विरुद्ध आवाज़ नहीं उठाई जाती···

कभी मन भर आता है तो केवल कविता लिख सकती हूं, सो लिख लेती हू, और कुछ भी संभव नहीं है। ऐसे ही किसी क्षण में यह लिखा था—'परछावयां नूं पकड़न वालयो ! छाती' च बलदी अग्ग दा परछावां नहीं हुन्दा।'[1]

यह सब-कुछ ठीक है, पर यही सब-कुछ नहीं है। जिस हाथ में भी लेखनी है वह जैसे पृथ्वी की सन्तान है उसी तरह लेखनी की सन्तान भी है, इसलिए जिनके हाथों में लेखनी है उनका आपस में निकट संबंध है। सती और हरिभजन की लेखनी में जो भी शक्ति है, वह इसी नाते मुझे अपनी लगती है और इसीलिए उनके प्रति मेरे मन की विरक्ति में एक पीड़ा भी शामिल है, एक उदासी भी।

जानती हूं, लेखनी के नाते से जन्मे मेरे मन के इस अपनत्व को वे लोग

१. परछाइयों को पकड़ने वालो ! छाती में जलती हुई आग की परछाईं नहीं होती।

नहीं समझेंगे। ये मूल्य, ये मान उनके मन का हिस्सा नहीं हैं, ये केवल मेरे हैं। यह केवल मैं जानती हूं कि केवल वह ही नहीं, विश्व के किसी भाग में जो कोई भी कलम के धनी हैं, वे मेरे हैं—मेरे अतीत का, मेरे वर्तमान का और मेरे भविष्य का हिस्सा। मेरे मन की अवस्था केवल मेरी सीमाओं तक सीमित नहीं है—न शरीर तक, न काल तक। वह कोई वह भी हो सकते हैं जो मुझसे हज़ारों साल पहले हुए होंगे, और कोई वह भी जो मुझसे हज़ारों साल बाद होंगे···

देखी, सुनी और बीती घटनाएं

जीवन की देखी, सुनी या बीती घटनाएं कब और किस प्रकार लेखक की रचना का अंश बन जाती हैं—कभी चेतन तौर पर और कभी बिलकुल अचेतन तौर पर—यह किसी हिसाब की पकड़ में नहीं आता।

विशेषकर अचेतन तौर पर जो अनुभव किसी रचना का अंश बन जाता है, वह कई बार अपनी आंखों के लिए भी एक अचंभा-सा हो जाता है।

रवीन्द्रनाथ ठाकुर से जब भेंट हुई थी, बहुत छोटी थी। कविताएं तब भी लिखती थी, पर बचकानी-सी। उन्होंने जब एक कविता सुनाने के लिए कहा तो सकुचाकर सुनाई थी, पर उन्होंने जो प्यार और ध्यान दिया था, वह कविता के अनुरूप नहीं था, उनके अपने व्यक्तित्व के अनुरूप था। उसका प्रभाव मुझ पर गहरा हुआ। और फिर जब रवीन्द्रनाथ ठाकुर की जन्म-शताब्दी मनाई जाने वाली थी, तब मैंने उन पर एक कविता लिखनी चाही। कुछ पंक्तियां लिखीं भी, पर तसल्ली नहीं हुई। फिर मैं मास्को चली गयी (१९६१ में)। वहां जिस होटल में ठहरी थी उसके सामने मायकोव्स्की का बुत बना हुआ था, और जिस जगह वह होटल था उसका नाम गोर्की स्ट्रीट था।

एक रात की बात—लगभग दस बजे होंगे, मैंने होटल की खिड़की से देखा कि एक जनसमूह मायकोव्स्की के बुत के गिर्द इकट्ठा है। ज्ञात हुआ कि कई नौजवान कवि प्रायः रात के समय वहां आकर खड़े हो जाते हैं और बुत के चबूतरे पर खड़े होकर कभी वे मायकोव्स्की की कोई कविता पढ़ते हैं, और कभी अपनी। रास्ता चलते लोग उनके इर्द-गिर्द आकर खड़े हो जाते हैं, और कविताएं सुनते हैं, फ़रमाइशें भी करते हैं, और इस प्रकार यह खुला कवि-सम्मेलन आधी रात तक चलता रहता है। हवा ठंडी लगने लगे, तो लोग अपने कोटों के कॉलर ऊपर पलट लेते हैं, मेंह बरसने लगे तो सिर के ऊपर छतरी तान लेते हैं। मैं भी कुछ देर के लिए कोट पहनकर इस खुले कवि-सम्मेलन में चली गयी। यूं

तो मुझे रूसी भाषा का एक भी शब्द समझ में नहीं आया, पर उनके स्वर की गर्माहट मेरी समझ में जरूर आयी। फिर जब मैं अपने कमरे में लौटी, मेरे सामने रवीन्द्रनाथ ठाकुर का चेहरा भी था, मायकोव्स्की का भी, और गोर्की का भी—सारे चेहरे मिश्रित-से हो गए—जैसे एक हो गए हों—और उस रात रवीन्द्रनाथ ठाकुर वाली कविता पूरी हो गयी—

महरम इलाही हुस्नदी, कासद मनुखी इश्क़ दी,
एह क़लम लाफ़ानी तेरी, सौग़ात फ़ानी जिस्म दी…[1]

'आक के पत्ते' उपन्यास में उसका मुख्य पात्र जब रोज़ शाम के समय स्टेशन जाकर आनेवाली गाड़ियों में अपनी खोयी हुई बहन का चेहरा ढूंढता है तो एक दिन अनायास ही उसके पैर उसे अपने गांव वाली गाड़ी के अन्दर ले जाते हैं। जाड़े के दिन, कोई गर्म कपड़ा पास नहीं, वह रात की ठंड में गुच्छा-सा बैठ जाता है। विचारों में डूबा हुआ उसका मन, नींद में भी डूब जाता है। एक स्टेशन पर गाड़ी रुकती है तो उतरने-चढ़ने वाली सवारियों की आहट से वह जाग उठता है। देखता है— उसके एक रज़ाई लिपटी हुई है, एक बड़े नर्म-से चेहरे का बूढ़ा आदमी पास की सीट पर बैठा हुआ है, एक खेस लपेटे हुए, अपनी रज़ाई उसे उढ़ाकर। एक दिन अचानक इस उपन्यास का यह अंश सामने आया तो याद आया—यह उपन्यास लिखने के चार वर्ष पहले, मैं जब रोमानिया से बल्गारिया जा रही थी, रात बहुत ठंडी थी, पास में अपने कोट के सिवाय कुछ नहीं था, वही घुटने जोड़कर ऊपर तान लिया था। फिर भी, जब उसे सिर की ओर खींचती थी तो पैरों को ठिरन लगती थी, पैरों पर डालती थी तो सिर और कंधों को ठंड लगती थी। न जाने कब मुझे नींद आ गयी—लगा, सारे शरीर में गर्मी आ गयी है। बाक़ी रात खूब गर्माइश में सोती रही। सवेरे तड़के जागी तो देखा—मेरे डिब्बे में सफ़र करने वाले एक बल्गारियन आदमी ने अपना ओवरकोट मुझ पर रज़ाई की तरह डाल दिया था।

यह घटना मैंने चेतन तौर पर इस उपन्यास में नहीं डाली थी, पर लिख चुकने के कितने ही वर्ष बाद जब पढ़ा तो लगा कि उस रात की गर्माइश मेरी रगों में कहीं एक अमानत की तरह पड़ी हुई थी।

'यात्री' उपन्यास १९६८ में लिखा था। उसकी एक पात्र सुन्दरां बिलकुल कल्पित थी। मैं उपन्यास के मुख्य पात्र की जन्म-कथा जानती थी, उसके संबंध में लिखा भी था—'नायक को जानती हूं, उस दिन से जिस दिन उसे साधुओं के एक

१. हमराज़ दैवी सौन्दर्य की, संदेशवाहक मानव प्रेम की
यह लेखनी अमर तेरी, सौग़ात भंगुर देह की…

डेरे में चढ़ाया गया था। बहुत बरसों की बात है, पर अब भी ध्यान आ जाती है तो बहुत तराशे हुए नक़्श वाला उसका सांवला चेहरा, उसकी सारी उदासी के समेत, आंखों के सामने आ जाता है।' पर सुन्दरां मेरी कल्पना से निकलकर इस उपन्यास के पृष्ठों में उतरी थी, और मेरी समझ में नहीं आता था कि सुन्दरां का पात्र चित्रित करते समय मेरी आंखें क्यों भर-भर आती रही थीं।

उपन्यास लिखकर सबसे पहले इमरोज़ को सुनाया था, और सुनाते-सुनाते जब सुन्दरां का ज़िक्र आया, मेरे अपने कलेजे को जैसे किसी ने कचोट लिया। फिर यह उपन्यास हिन्दी में उल्था हुआ। हर अनुवाद छपने से पहले सुना करती हूं—इसे सुनते समय जब फिर सुन्दरां की बात आयी, मैं बेचैन हो गयी।

उपन्यास हिन्दी में छप गया। तब १९६९ था। पंजाबी में दो वर्ष बाद छपा था—१९७१ में, उसके प्रूफ़ देखते समय फिर जब सुन्दरां आयी तो मैं व्याकुल हो गयी।

अपने आपको, इस अपने दिल में पड़ने वाली कसक का कुछ पता नहीं लगता था। पर १९७३ में जब इस उपन्यास का अंग्रेज़ी में अनुवाद हो रहा था—उस समय जब सुन्दरां सामने आयी तो ऐसा प्रतीत हुआ जैसे मैं स्वयं अपनी नब्ज़ देख रही हूं···

लेखक के अपने जीवन की घटनाएं—उपन्यासों-कहानियों के पात्रों में सदा ढलती हैं, छाती के भीतर से उठती हैं, काग़ज़ों पर जा उतरती हैं। परन्तु यह सुन्दरां इसके विपरीत अनुभव है—यह काग़ज़ों में से उठकर मेरी छाती में उतर गयी थी···अचनक लगा, जैसे घोर अंधेरे में एकाएक दीया जल उठे, कि यह सुन्दरां मैं हूं···

'मैं' को मैंने चेतन तौर पर सुन्दरां में नहीं ढाला था, इसलिए कई वर्ष तक इसे पहचान नहीं सकी थी। यह अपना अस्तित्व मुझे भीतर ही भीतर खरोंचता था। मैं मन की तहों को टटोलती थी, फिर भी यह पहचान में नहीं आता था। पर जब पहचान में आया—तो अपना एक-एक विचार तक पहचान में आ गया···

सुन्दरां जब मन्दिर में जाकर शिव और पार्वती के चरणों पर फूलों की झोली उलटती है ताकि जब वह शिव-पार्वती के चरणों पर माथा नवाए तब फूलों के ढेर के नीचे से बांह फैलाकर मूर्तियों के पास खड़े हुए अपने प्रिय के पैरों को भी हथेली से छू ले और उसके हाथ पर किसी की नज़र भी न पड़े, तो लगा—यह मैं हूं, जो अनेक वर्ष एक चेहरे की इस प्रकार कल्पना करती रही कि अक्षर ही अक्षर, फूलों के ढेर की भांति, अंबार लगा दिए और जिनके नीचे से बांह ले जाकर किसी को इस तरह छू लेना चाहती थी कि, ऊपर से, किसी देखने वाले को दिखाई न दे।

सुन्दरां बहुत समय तक—चुपचाप—फूल चुनती रही, और सबकी चोरी

से अपने प्रिय के पैर छूती रही। मैं अनेक वर्षों तक कविताओं के अक्षर जोड़ती रही, और चुपचाप अपने प्रिय के अस्तित्व को छूती रही···

सुन्दरां का प्रिय ज़ीता-जागता था—पत्थर की मूर्ति के समान था, जिस सुन्दरां के मन का सेंक नहीं पहुंचता था। और मैं भी अनेक वर्षों तक सुन्दरां की जगह पर खड़ी रही थी—मेरे मन का सेंक भी कहीं नहीं पहुंचता था, एक पत्थर जैसी चुप से टकराता था, और सुलगता-बुझता फिर मेरे पास ही लौट आता था।

सुन्दरां जब शरीर पर विवाह का जोड़ा और नाक में सोने की नथ पहनकर मन्दिर में अपने प्रिय को अन्तिम प्रणाम करने के लिए आती है, कुछ आंसू ढुलक-कर उसकी नथ के तार पर अटक जाते हैं— मानो नथ की आंखों में आंसू भर आए हों —तो यह समूची मैं थी, मेरे हर छाप-छल्ले की आंखों में इसी तरह आंसू भर-भर आते थे···

ओ ख़ुदाया ! कभी अपना आप भी अपने से इस तरह छिप-छिप जाता है।··· यह अचेतन मन का कैसा खेल है !

पूरे ग्यारह वर्ष की नहीं थी जब मां मर गई थी। मां की ज़िन्दगी का आख़िरी दिन मुझे पूरी तरह याद है। 'एक सवाल' उपन्यास में उपन्यास का नायक जगदीप, मरती हुई मां की खाट के पास जिस तरह खड़ा हुआ है, उसी तरह मैं अपनी मरती हुई मां की खाट के पास खड़ी हुई थी, और मैंने जगदीप की भांति, एकाग्र मन होकर ईश्वर से कहा था—'मेरी मां को मत मारो।' और मुझे भी, उसी की तरह, विश्वास हो गया था कि अब मेरी मां की मृत्यु नहीं होगी क्योंकि ईश्वर बच्चों का कहा नहीं टालता···पर मां की मृत्यु हो गयी, और मेरा भी, जगदीप की तरह, ईश्वर के ऊपर से विश्वास हट गया।

और जिस प्रकार जगदीप उस उपन्यास में मां के हाथों की पकाई एक आले में रखी हुई दो सूखी रोटियों को संभालकर अपने पास रख लेता है—'इन रोटियों को टुकड़े-टुकड़े करके कई दिन खाऊंगा'—उसी प्रकार मैंने उन सूखी हुई रोटियों को पीसकर एक शीशी में रख लिया था···

यह सब-कुछ मैंने चेतन तौर पर उस उपन्यास में डाला था। पर, 'यात्री' उपन्यास में महन्त किरपासागर के किसी भी वर्णन में मैंने चेतन तौर पर अपने पिता की याद को नहीं डाला था। पर जब बरसों बाद मैंने उस उपन्यास को पढ़ा तो जब महन्त किरपासागर की मृत्यु के बाद उपन्यास का नायक उसकी आवाज़ का अपने मन में ध्यान करता है, तो मुझे लगा—यह मैं स्वयं अपने पिता की आवाज़ का ध्यान कर रही थी—'उनकी आवाज़ में कुछ ख़ास तरह का ऐसा था—नदी के जल के समान, हल्का-सा होते हुए भी बहुत भारी, और अपने ही ज़ोर से बहता हुआ। कोई पत्थर, कंकड़, पत्ता या हाथों का मैल उसमें फेंक दे तो उससे

बेपरवाह उसे बहाकर ले जाता, या उसे पैरों में फेंककर उसके ऊपर से गुज़र जाता। उनकी आवाज़ एक सीध में चले जाती थी, इर्द-गिर्द की बातें सुनकर कभी रुकती हुई नहीं लगती थी। साधुओं के डेरों में भी, घर-गृहस्थियों की भांति, झगड़े-झमेले और निन्दा-चुग़ली रचते-बसते हैं—जाले इनके कोनों में भी लगते हैं—पर उनकी आवाज़, नदी के वेग के समान, इस सब-कुछ को बहाकर ले जाती थी, और इसकी ओर आंख भरकर देखती तक नहीं थी। यह आवाज़ दो तरह की थी—एक भारी, गहरी और वेगवती; दूसरी बहुत सूक्ष्म, उदास और पवन की भांति पवन में मिलती हुई···

और उपन्यास में महन्त किरपासागर जिस बोल को बार-बार दोहराते हैं, याद आया कि वही बोल मेरे पिता के होंठों पर हुआ करते थे—'मुद्दतें गुज़र गयीं बेयारो मददगार हुए···

महन्त किरपासागर की कहानी का कुछ अंश मैंने चेतन तौर पर अपने पिता के एक मित्र साधु के जीवन से लिया था, पर जब महन्त किरपासागर के स्वभाव का वर्णन किया तो अचेतन तौर पर मुझसे अपने ही पिता के स्वभाव का वर्णन हो गया।

१५ मई, १९७३ को जब मुझे दिल्ली विश्वविद्यालय ने डी० लिट्० की ऑनरेरी डिग्री दी थी, मेरे घर लौटने पर देविन्दर ने अपनी जेब में कुछ छिपाते हुए कहा था, 'दीदी ! आज कुछ मन-आयी करने को जी कर रहा है, नाराज़ मत होना।' जवाब में मैंने हंसकर कहा था, 'भाई, तुम्हारे मन में जो भी आएगा अच्छा ही होगा'—और देविन्दर ने जेब से एक रेशमी रूमाल, मिसरी और इक्कीस रुपये निकालकर कहा, 'दीदी ! तुम्हारे पिता या भाई कोई होता, तो कुछ न कुछ शगुन करता—यह शगुन उनकी तरफ से···'

आंखें भर आयीं, और याद आया, 'एक सवाल' उपन्यास में जब उपन्यास का नायक अपने पिता की मृत्यु के बाद अपनी भरपूर जवान सौतेली मां का अपने हाथों उसके मन का विवाह करता है और वह जवान लड़की थाली में रोटी डालकर कहती है—'आ ! मां-बेटे साथ खाएं' तो वह रोटी का पहला ग्रास तोड़ते हुए कहता है—'पहले यह बताओ कि तुम मेरी मां लगती हो या बहन या बेटी ?'··· तो उपन्यास का यह अंश लिखते समय देविन्दर मेरे सामने नहीं था—पर चौदह वर्ष बाद जब देविन्दर ने वह रूमाल, वह मिसरी और वे रुपये मेरी झोली में डाले, मेरे मन में आया हुआ बोल निरा-पूरा वही था—'तुम पहले यह बताओ कि तुम मेरे पिता लगते हो, मेरे भाई, या मेरे पुत्र ?'

एक कहानी 'पिघलती चट्टान' मैंने १९७४ के आरंभ में लिखी थी। तब बिलकुल नहीं जानती थी कि मेरे अचेतन मन की यह कौन-सी अभिव्यंजना है। मैंने इसकी पृष्ठभूमि नेपाल के स्वयंभू पर्वत के शिखर पर स्थित एक मन्दिर

रखा था जहां एक नवयुवती 'राजश्री' रात के चौथे पहर में जाती है और वहां पहुंचकर दूसरी ओर की ढलान की ओर उतरते हुए वह वसीगा नदी के पथ को पहचान लेती है, जिस नदी में कभी दो सौ वर्ष पूर्व उसके वंश की एक कुमारी ने जीवन से मुक्ति प्राप्त करने का मार्ग खोज लिया था।

राजश्री, मन के असमंजस में, वही मार्ग चुनती है जो कभी उसके वंश की एक कुमारी ने चुना था। साथ ही सोचती है—पैरों के लिए एक यही रास्ता क्यों बना है ?

कहानी आगे बढ़ती है तो राजश्री के मन में एक युग पलटता है। वह स्वयं को पहचान जाती है, जान जाती है कि किसी एक समय का सत्य हर समय का सत्य नहीं होता—और वह मृत्यु के ढलान की ओर से पैर लौटाकर जीवन की चढ़ाई के रास्ते को पकड़ लेती है।

पूरे दो वर्ष बीत गए। इस कहानी के पात्र के साथ अपने आपको जोड़कर कभी भी नहीं देखा था, कि एक रात को अर्धनिद्रा की अवस्था में, मेरे जीवन का समय-चक्र लगभग पैंतीस वरस पीछे चला गया, और मैंने देखा, मैं मुश्किल से कोई वीस वरस की हूं, गुजरांवाला गयी हूं, उसी गली, उसी घर में, जहां कभी मेरे पिता की वहन 'हाको' तहखाने में उतरकर चालीसा काटते हुए मर गयी थी···

कानों में वही आवाज़ आयी, पैंतीस वरस पहले की, जव मुझे देखकर गली की 'जीवी' नाम की भक्तिन, जो पहले तो मुझे देखती रह गयी थी, फिर अपने चकित चेहरे पर हाथ रखकर वोली थी—'हाय, मैं मर गयी ! विलकुल वही, वही हाको···वैसी की वैसी···'

उस गली में मेरी बूआ हाको के समय की यही एक स्त्री थी जो अभी तक जीवित थी। उसने यह कहा तो मैंने शीशे में अपने चेहरे को देखकर पहली वार हाको के चेहरे की कल्पना की···यूं तो अपनी बूआ की सूरत से मेरी सूरत का मिल जाना एक स्वाभाविक वात हो सकती थी, पर लगा—यह प्रकृति का कोई रहस्य है, शायद होनी का संकेत। मैं उस समय मन की गहरी परेशानी से गुज़र रही थी। व्याह हो चुका था, पर मन उखड़ा-उखड़ा था।···अपने चेहरे में हाको का चेहरा देखा तो आंखें भर आयीं। लगा—हाको का अंत ही मेरा अंत है···

वही दिन थे जब मैंने मरना नहीं, जीना चाहा। तड़पकर सोचा—'पैरों के लिए एक यही रास्ता क्यों वना है ?' और फिर तड़पकर फ़ैसला किया—मैं हाको की तरह मरूंगी नहीं···जीऊंगी···'

जन्मों की वात नहीं जानती थी, पर सोचा, जीवी भक्तिन के कहे अनुसार यदि यह सच भी है कि पिछले जन्म में मैं ही हाको थी तव भी इस जन्म में उस तरह मरूंगी नहीं···

पर यह आपवीती मुझे १९७४ में कहानी 'पिघलती चट्टान' लिखते समय

चेतन तौर पर बिलकुल याद नहीं थी। मेरा अचेतन मन न जाने किस समय ऊपर आकर यह कहानी लिखवा गया, और फिर, मेरी आंखों से भी अपने आप को चुराता हुआ···मन की तहों में उतरकर अलोप हो गया···

कुछ घटनाएं बहुत ही थोड़े समय के बाद किसी रचना का अंश बन जाती हैं, पर कुछ घटनाओं को कलम तक पहुंचने के लिए बरसों का फ़ासला तय करना पड़ता है। पहली तरह की घटनाओं में मुझे एक याद है जब मैं १९६० में नेपाल गयी थी। लगभग पांच दिन तक रोज़ शाम के समय किसी न किसी बैठक में कवि-सम्मेलन होता था, जहां कुछ नेपाली कवि रोज़ मिल जाते थे। उनमें एक कवि थे चढ़ती जवानी में, किन्तु बहुत ही गंभीर स्वभाव के। मैंने केवल इतना ही जाना था कि वह रोज़ धीरे से मेरी एक खास कविता की फ़रमाइश अवश्य करते थे, इससे ज्यादा कुछ नहीं। पर जिस दिन वापस दिल्ली आना था, और कई कवियों के साथ वह भी एयरपोर्ट आए थे, और संयोग था कि उस दिन प्लेन एक घंटे लेट था, प्रतीक्षा के सारे समय में वह मेरा भारी गर्म कोट उठाए रहे। फिर प्लेन के आने पर जब मैं उनसे कोट लेने लगी, तो उन्होंने धीरे से कहा—'यह जो भार दिखाई देता है यह तो आप ले लीजिये, जो नहीं दिखाई देता वह मैं लिये रहूंगा'···और मैं बस चौंक-सी गयी थी। दिल्ली पहुंचकर एक कहानी लिखी 'हुंकारा'—उनके बारे में नहीं, पर यह वाक्य अनायास ही उस कहानी में आ गया।

अब दूसरे प्रकार की घटना जो क़लम तक पहुंचने में बरसों लगा देती है—उसका एक उदाहरण मेरी कहानी 'दो औरतें' है, जिसमें एक औरत शाहनी है और दूसरी एक वेश्या, शाह की रखेल। यह सारी घटना लाहौर में आंखों के सामने होती हुई देखी थी। वहां एक धनी परिवार के लड़के का ब्याह था, और घर की लड़की-बालियां गा-बजा रही थीं। उस परिवार से मामूली-सा परिचय था। उस समय मैं भी वहां थी जब यह पता चला कि लाहौर की प्रसिद्ध गायिका तमंचा जान वहां आ रही है। वह आयी—बड़ी ही छबीली, नाज़-नखरे से आयी। उसे देखकर एक बार तो घर की मालकिन का रंग हल्दी जैसा पीला पड़ गया। पर आखिर वह थी तो लड़के की मां—तमंचा जान जब गा चुकी तब शाहनी ने सौ का नोट निकालकर उसके आंचल में खैरात की तरह डाल दिया। इस समय नाज़-नखरे वाली हैसियत मिटने जैसी हो आयी, पर अपना ग़रूर क़ायम रखने के लिए औरतों की उस भरी मजलिस में बोली—'रहने दो, शाहनी! आगे भी तो इस घर का ही खाती हूं'—और इस प्रकार शाह से नाता जोड़कर जसे उसने शाहनी को छोटा कर दिया। मैंने देखा—शाहनी औरतों की उस भरी मजलिस में एक बार खिसियानी-सी हुई पर फिर सभलकर लापरवाही से नोट को तमचा जान को लौटाते हुए बोली—'सुन री, शाह से तो तू हमेशा ही लेगी, पर मुझ से तुझे कब-कब मिलेगा!'



अमृता के पिता जब नन्द साधु थे

अमृता के पिता सरदार करतारसिंह 'हितकारी'

अमृता : १९३८ (स्थान : आल इंडिया रेडियो, लाहौर का स्टूडियो)

अमृता और पांच महीने की कंदला : १९४६



अमृता : १९४६ (स्थान : आल इंडिया रेडियो, लाहौर का स्टूडियो)

अमृता और एक वर्ष का नवराज : १९४८





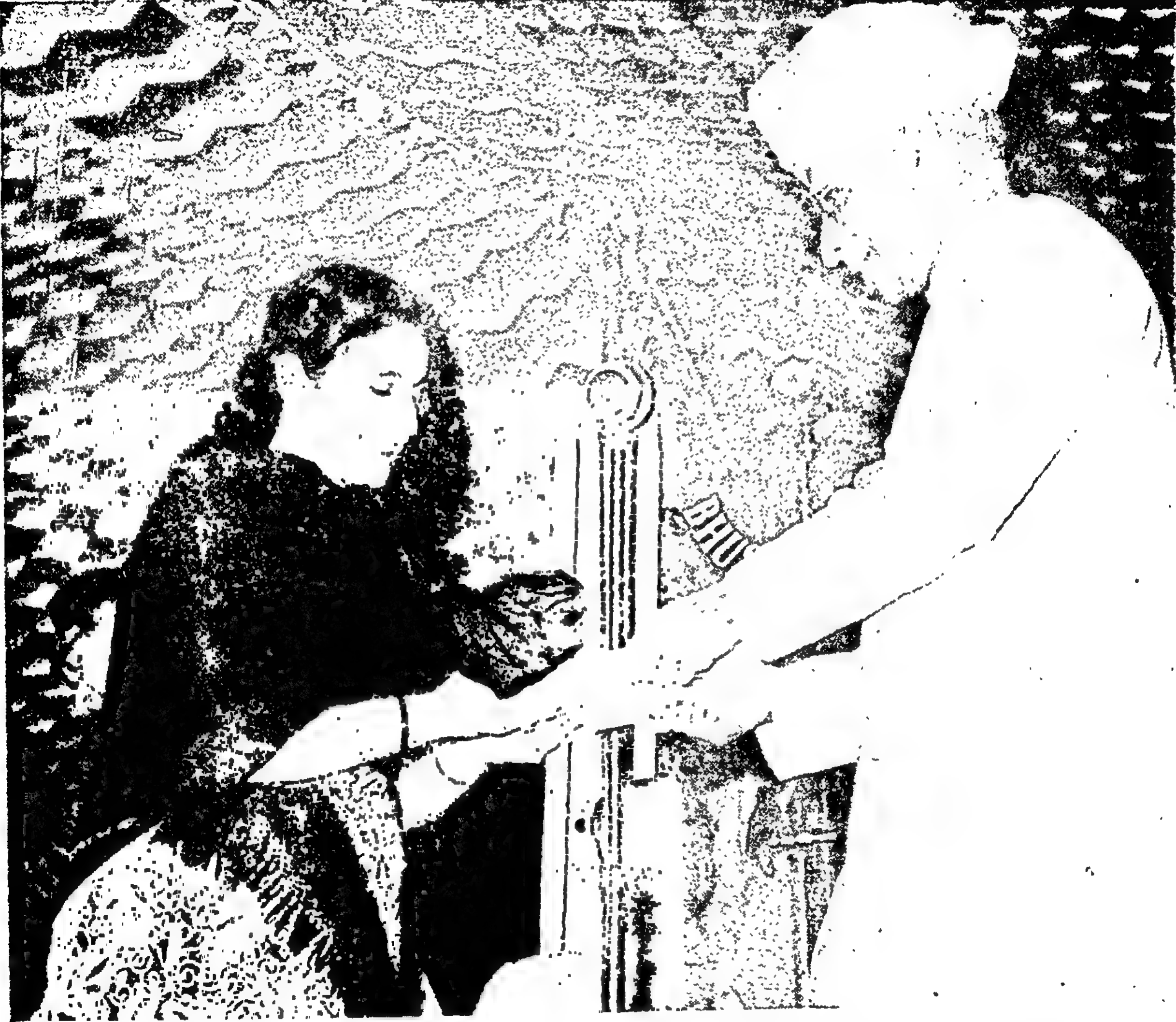
अमृता (स्थान : जालन्धर रेडियो स्टेशन का स्टूडियो)

अमृता : १९५०





साहिर और अमृता



साहित्य अकादमी पुरस्कार के समय : १९५६

अमृता (स्थान : दिल्ली रेडियो स्टेशन का स्टूडियो)

इमरोज





नवराज

अमृता : १९६०



नेपाल में : १९६०

उजबेकिस्तान की फ़रग़ाना वादी में : १९६१



यूगोस्लाविया में आखरिद के सर्वदेशीय कवि-सम्मेलन में : १९६७



वल्गारिया में चित्रकार
एंटोनिया वोचेवा का
वनाया हुआ
अमृता का बुत

कंदला के विवाह के अवसर पर : २३ अप्रैल, १९७०



दला और उसका पहला
वच्चा कार्तिक

अमृता और कार्तिक





कंदला के दोनों बच्चे कार्तिक और आरोही

कंदला के विवाह के अवसर पर : २३ अप्रैल, १९७०



कंदला और उसका पहला
वच्चा कार्तिक

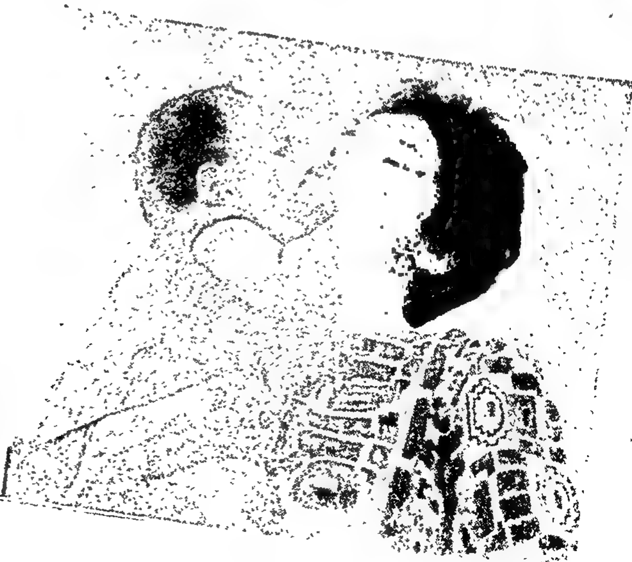
अमृता और कार्तिक





कंदला के
दोनों बच्चे
कार्तिक और
आरोही

कंदला के विवाह के अवसर पर : २३ अप्रैल, १९७०



कंदला और उसका पहला
बच्चा कार्तिक



दिल्ली विश्वविद्यालय की ओर से मिली डी.लिट्. की डिग्री के समय :
१५ मई, १९७३



अमृता : १९७२

नवराज की शादी
के अवसर पर :
७ फरवरी, १९७२



दिल्ली विश्वविद्यालय की ओर से मिली डी.लिट्. की डिग्री के समय :
१५ मई, १९७३



इन्दिराजी पर बन रही फिल्म की शूटिंग के समय : सितम्बर, १९७६

यह दो औरतों का अजीब टकराव था, जिसकी पृष्ठभूमि में सामाजिक मूल्य थे। तमंचा चाहे लाख जवान थी, छबीली थी, कलाकार थी, और शाहनी मोटी और ढलती आयु की थी और हर प्रकार से उस दूसरी के सामने साधारण थी, उसके पास पत्नी और मां होने का जो मान था, वह बाजार की सुन्दरता पर भारी था···

पर यह कहानी मैं पूरे पचीस वर्ष बाद लिख पायी।

१९७५ में मेरे उपन्यास 'धरती, सागर और सीपियां' के आधार पर जब 'कादम्बरी' फ़िल्म बन रही थी तो उसके डायरेक्टर ने मुझसे फ़िल्म का एक गीत लिखने के लिए कहा। अवसर वह बताया जब चेतना, सामाजिक चलन के ख़याल को हाथ से परे हटाकर अपने प्रिय को अपने मन में, और तन में, हासिल कर लेती है। और इस मिलन और दर्द के स्थल पर खड़ी चेतना को सामने रखकर, मैं जब गीत लिखने लगी तो अचानक वह गीत सामने आ गया जो मैंने १९६० में इमरोज़ से पहली बार मिलने पर अपने मन की दशा के बारे में लिखा था। जो दशा मैंने अपने मन पर भोगी थी, लगा, वही अब चेतना को भोगनी है, और उस गीत से अच्छा और कुछ नहीं लिखा जा सकता। सो, मैं अपने पंजाबी गीत को हिन्दी में अनुवाद करने लगी। तब मुझे लगा जैसे चेतना के रूप में मैं पन्द्रह बरस पहले की वह घड़ी फिर से जी रही हूं—

अम्बर की एक पाक सुराही, बादल का एक जाम उठाकर
घूंट चांदनी पी है हमने, बात कुफ़्र की की है हमने
कैसे इसका क़र्ज़ चुकाएं, मांग के अपनी मौत के हाथों
यह जो ज़िन्दगी ली है हमने, बात कुफ़्र की की है हमने
अपना इसमें कुछ भी नहीं है, रोज़े-अज़ल से उसकी अमानत
उसको वही तो दी है हमने, बात कुफ़्र की की है हमने···

नीना मेरे 'आलना' उपन्यास की कल्पित पात्र थी, पर उसे लिखते हुए उसके नैन-नक़्श मेरे मन में इस तरह उभर आए थे कि एक दिन वह मेरे सपने में आ गयी। बहुत गुस्से में पहले चुपचाप मेरे पास आकर खड़ी रही, फिर तड़पकर कहने लगी, 'तुमने मेरा अन्त इतना दुःखान्त क्यों बनाया? क्यों? अगर मैं जीवित रहती, तुम्हारा क्या हरज होता? तुमने मुझे क्यों मरने दिया? क्यों? मैं जीना चाहती थी···'

उपन्यास में एक जगह नीना कहती है, 'मेरी मां भी सुखी न हो सकी, वह शायद मैं ही थी पहले जन्म में, और अब मैं सुखी न हो सकी दूसरे जन्म में, शायद अपनी पुत्री के रूप में सुखी होऊंगी—तीसरे जन्म में···' यह जन्मों की बात मैंने किसी जन्मों में विश्वास के कारण नहीं लिखी थी, केवल तीन पीढ़ियों की बात को प्रतीकात्मक रूप में ढाला था। पर यह बात मेरी पाठक लड़कियों में से

एक के मन में इतनी गहरी बैठ गयी कि उसने अपने आपको नीना समझ लिया और यह विश्वास भी कर लिया कि वह मरकर तीसरे जन्म में जाएगी तो सुखी होगी···वह मुझे पत्र लिखती पर अपने नाम और पते के बिना, केवल इतना ही लिखती, 'मैं आपके उपन्यास की नीना हूं'—मैं उसे इस वहम से निकालना चाहती थी, कि वह इस कहानी में अपनी क़िस्मत की परछाईं न देखे। पर कमबख़्त ने कभी भी मुझे अपना पता नहीं लिखा। मैं नहीं जानती उसके साथ ज़िन्दगी में फिर क्या हुआ···

इसी प्रकार उपन्यासों-कहानियों के कई पात्र पाठकों के लिए इतने सजीव हो उठते हैं कि वे पत्रों में मुझे लिखते हैं—वह ऐना, वह अलका, वह अनीता जहां भी है उसे प्यार देना···

'एक थी अनीता' उपन्यास जब उर्दू में छपा तो हैदराबाद से वैश्या घराने की एक औरत ने मुझे पत्र लिखा कि वह उसकी कहानी है। उसकी आत्मा भी उसी प्रकार पवित्र है, उसकी जिज्ञासा भी वही है, केवल घटनाएं भिन्न हैं। और उसने अपना नाम-पता बताकर लिखा कि अगर मैं उसकी कहानी लिखना चाहूं तो वह कुछ दिनों के लिए दिल्ली आ सकती है। मैंने उसे पत्र लिखा, पर उसके बाद कभी उसका पत्र नहीं आया, न जाने उस इतनी संवेदनशील औरत का क्या हुआ।

हां, 'एरियल' नॉवलेट की मुख्य पात्र मेरे पास आकर लगभग डेढ़ महीने मेरे घर पर रही थी ताकि मैं उसकी ज़िन्दगी पर कुछ लिख सकूं। नॉवलेट लिखकर पहले उसे सुनाया था। इस रीडिंग के समय उसकी आंखों में कई बार संतोष के आंसू आए। इस प्रकार अगर किसी व्यक्ति विशेष पर कहानी या उपन्यास लिखूं तो उस पात्र की तसल्ली मेरे लिए कहानी छपने से अधिक ज़रूरी होती है। मेरा विश्वास है कि रचना मानव जीवन के अध्ययन के लिए है, न कि कुछ लोगों को दुखाने के लिए या उनके बारे में चौंकाने वाली अफ़वाहें फैलाने के लिए, जैसा कि हमारे कुछ पंजाबी लेखक करते हैं।···

'बुलावा' नॉवलेट मैंने बम्बई के प्रसिद्ध कलाकार फ़ैज़ के जीवन पर लिखा था। उन्होंने रेस के घोड़ों पर केवल पैसा ही नहीं लगाया, अपना सारा जीवन लगा दिया है। उनकी कला और उनका यह घातक शौक़ दोनों परस्पर-विरोधी दिशाएं हैं। इसी खींच-तान में पड़े हुए उनके जीवन के आवारा वर्षों की कथा लिखने की कोशिश की थी। पर लिखकर सबसे पहले यह नॉवलेट उन्हें ही सुनाया और उनकी अनुमति लेकर प्रेस में दिया।

इसी प्रकार कई कहानियां हैं। एक किसी देश के राजदूत की बड़ी प्यारी और उदास पत्नी पर लिखी थी जिसे उसके पढ़ने के लिए पहले अंग्रेज़ी में अनुवाद करवाया और फिर उसकी अनुमति लेकर प्रेस में दिया। दो-तीन कहानियां मैंने अपनी एक बहुत अच्छी दोस्त की ज़िन्दगी पर लिखी हैं, उसकी

ज़िन्दगी के बड़े नाज़ुक वक़्तों के बारे में—पर छापने से पहले उसे सुनाई, उसके कहने के अनुसार शहरों और पात्रों के नाम भी इस तरह बदले कि कोई उसका नज़दीकी रिश्तेदार भी पहचान न सके।

एक कहानी एक विदेशी औरत पर भी लिखी थी—उसमें कहानी का अन्त बदलना पड़ा था। कहानी में उसकी मृत्यु हो जाती है। पर वर्षों बाद मैं उसके देश गयी तो वह कसकर गले लगकर मिली। उसके पहले शब्द थे, 'देखो, मैं अभी भी ज़िन्दा हूं। कहानी की मृत्यु में से गुज़रकर भी ज़िन्दा हूं।' और उस दिन हम दोनों ने साथ-साथ तसवीरें खिचवाईं। उसने अपने देश में मेरे लिए कई सौग़ातें ख़रीदीं।

सच में, मेरे पात्र और उनका मेरे लिए प्यार, मेरी असली अमीरी है। मैं नहीं जानती कि जो लेखक अपने पात्रों के दिलों को दुखाकर कहानियां गढ़ते हैं उन्हें ज़िन्दगी में क्या हासिल होता है।

उपन्यास 'जेबकतरे' जब लिख रही थी तो उसमें जेल में पड़ा हुआ एक पात्र तनवीर एक कविता लिखकर किसी प्रकार जेल के बाहर भिजवाता है और कविता के नीचे अपने नाम के स्थान पर क़ैदी नम्बर लिखता है—६८६।६।

मैंने यह नम्बर अचेतन रूप से लिखा तो याद आया कि यह गोर्की का नम्बर था जब वह क़ैद में था जो मैंने मास्को में उसके स्मारक को देखते समय कभी अपनी डायरी में नोट कर लिया था। फिर आगे उपन्यास की कहानी में मैंने उसे चेतन तौर पर बरत लिया···

हां, इस प्रकार कभी यह मालूम नहीं होता कि चेतन और अचेतन रचनाएं कब और कहां रिल-मिल जाती हैं।

उपन्यास 'जेबकतरे' मैंने अपने युवा होते हुए पुत्र के जीवन के आधार पर लिखा था। इससे पहले एक कहानी लिखी थी 'कहानी दर कहानी', जिसकी घटना यह थी कि एक बार छुट्टियों में होस्टल से घर आए हुए मेरे बेटे ने अपनी एक बंगालिन दोस्त को पत्र लिखा, बड़े एहसास के साथ, कि इस समय मेरे कमरे में बेथोवन का संगीत है और मैं तुम्हें पत्र लिख रहा हूं, पर तुम्हें पत्र लिखना ऐसा है जैसे कोई अपने ही घर का दरवाज़ा खटका रहा हो···उत्तर में उस लड़की का जो पत्र आया वह बहुत साधारण था। शाम का गहरा अंधेरा था जिस समय वह एक काग़ज़ लिये मेरे कमरे में आया। मैं उस समय तक न उस पत्र के बारे में जानती थी, जो उसने लिखा था और न उसके बारे में जो उत्तर में आया था। उसने कहा, 'मामा, मैंने एक लड़की को एक ख़त लिखा था, पर उसकी समझ में ही नहीं आया। वह आपको सुनाऊं?' और उसने मुझे वह ख़त सुनाया। ख़त की रफ़ कॉपी उसके पास थी। फिर कहने लगा, 'जवाब में जो ख़त आया है वह ऐसा है जैसे मौसम का हाल लिखा हो।' मैंने पूछा, 'अब उसे

एक के मन में इतनी गहरी बैठ गयी कि उसने अपने आपको नीना समझ लिया और यह विश्वास भी कर लिया कि वह मरकर तीसरे जन्म में जाएगी तो सुखी होगी···वह मुझे पत्र लिखती पर अपने नाम और पते के विना, केवल इतना ही लिखती, 'मैं आपके उपन्यास की नीना हूं'—मैं उसे इस वहम से निकालना चाहती थी, कि वह इस कहानी में अपनी क़िस्मत की परछाईं न देखे। पर कमवख़्त ने कभी भी मुझे अपना पता नहीं लिखा। मैं नहीं जानती उसके साथ ज़िन्दगी में फिर क्या हुआ···

इसी प्रकार उपन्यासों-कहानियों के कई पात्र पाठकों के लिए इतने सजीव हो उठते हैं कि वे पत्रों में मुझे लिखते हैं—वह ऐना, वह अलका, वह अनीता जहां भी है उसे प्यार देना···

'एक थी अनीता' उपन्यास जव उर्दू में छपा तो हैदराबाद से वैश्या घराने की एक औरत ने मुझे पत्र लिखा कि वह उसकी कहानी है। उसकी आत्मा भी उसी प्रकार पवित्र है, उसकी जिज्ञासा भी वही है, केवल घटनाएं भिन्न हैं। और उसने अपना नाम-पता बताकर लिखा कि अगर मैं उसकी कहानी लिखना चाहूं तो वह कुछ दिनों के लिए दिल्ली आ सकती है। मैंने उसे पत्र लिखा, पर उसके बाद कभी उसका पत्र नहीं आया, न जाने उस इतनी संवेदनशील औरत का क्या हुआ।

हां, 'एरियल' नॉवलेट की मुख्य पात्र मेरे पास आकर लगभग डेढ़ महीने मेरे घर पर रही थी ताकि मैं उसकी ज़िन्दगी पर कुछ लिख सकूं। नॉवलेट लिखकर पहले उसे सुनाया था। इस रीडिंग के समय उसकी आंखों में कई वार संतोष के आंसू आए। इस प्रकार अगर किसी व्यक्ति विशेष पर कहानी या उपन्यास लिखूं तो उस पात्र की तसल्ली मेरे लिए कहानी छपने से अधिक ज़रूरी होती है। मेरा विश्वास है कि रचना मानव जीवन के अध्ययन के लिए है, न कि कुछ लोगों को दुखाने के लिए या उनके वारे में चौंकाने वाली अफ़वाहें फैलाने के लिए, जैसा कि हमारे कुछ पंजावी लेखक करते हैं।···

'वुलावा' नॉवलेट मैंने वम्वई के प्रसिद्ध कलाकार फ़ैज़ के जीवन पर लिखा था। उन्होंने रेस के घोड़ों पर केवल पैसा ही नहीं लगाया, अपना सारा जीवन लगा दिया है। उनकी कला और उनका यह घातक शौक़ दोनों परस्पर-विरोधी दिशाएं हैं। इसी खींच-तान में पड़े हुए उनके जीवन के आवारा वर्षों की कथा लिखने की कोशिश की थी। पर लिखकर सवसे पहले यह नॉवलेट उन्हें ही सुनाया और उनकी अनुमति लेकर प्रेस में दिया।

इसी प्रकार कई कहानियां हैं। एक किसी देश के राजदूत की वड़ी प्यारी और उदास पत्नी पर लिखी थी जिसे उसके पढ़ने के लिए पहले अंग्रेज़ी में अनुवाद करवाया और फिर उसकी अनुमति लेकर प्रेस में दिया। दो-तीन कहानियां मैंने अपनी एक वहुत अच्छी दोस्त की ज़िन्दगी पर लिखी हैं, उसकी

ज़िन्दगी के बड़े नाज़ुक वक़्तों के बारे में—पर छापने से पहले उसे सुनाई, उसके कहने के अनुसार शहरों और पात्रों के नाम भी इस तरह बदले कि कोई उसका नज़दीकी रिश्तेदार भी पहचान न सके।

एक कहानी एक विदेशी औरत पर भी लिखी थी—उसमें कहानी का अन्त बदलना पड़ा था। कहानी में उसकी मृत्यु हो जाती है। पर वर्षों बाद मैं उसके देश गयी तो वह कसकर गले लगकर मिली। उसके पहले शब्द थे, 'देखो, मैं अभी भी ज़िन्दा हूं। कहानी की मृत्यु में से गुज़रकर भी ज़िन्दा हूं।' और उस दिन हम दोनों ने साथ-साथ तसवीरें खिचवाईं। उसने अपने देश में मेरे लिए कई सौग़ातें खरीदीं।

सच में, मेरे पात्र और उनका मेरे लिए प्यार, मेरी असली अमीरी है। मैं नहीं जानती कि जो लेखक अपने पात्रों के दिलों को दुखाकर कहानियां गढ़ते हैं उन्हें ज़िन्दगी में क्या हासिल होता है।

उपन्यास 'जेबकतरे' जब लिख रही थी तो उसमें जेल में पड़ा हुआ एक पात्र तनवीर एक कविता लिखकर किसी प्रकार जेल के बाहर भिजवाता है और कविता के नीचे अपने नाम के स्थान पर क़ैदी नम्बर लिखता है—६८९१९।

मैंने यह नम्बर अचेतन रूप से लिखा तो याद आया कि यह गोर्की का नम्बर था जब वह क़ैद में था जो मैंने मास्को में उसके स्मारक को देखते समय कभी अपनी डायरी में नोट कर लिया था। फिर आगे उपन्यास की कहानी में मैंने उसे चेतन तौर पर बरत लिया···

हां, इस प्रकार कभी यह मालूम नहीं होता कि चेतन और अचेतन रचनाएं कब और कहां रिल-मिल जाती हैं।

उपन्यास 'जेबकतरे' मैंने अपने युवा होते हुए पुत्र के जीवन के आधार पर लिखा था। इससे पहले एक कहानी लिखी थी 'कहानी दर कहानी', जिसकी घटना यह थी कि एक बार छुट्टियों में होस्टल से घर आए हुए मेरे बेटे ने अपनी एक बंगालिन दोस्त को पत्र लिखा, बड़े एहसास के साथ, कि इस समय मेरे कमरे में बेथोवन का संगीत है और मैं तुम्हें पत्र लिख रहा हूं, पर तुम्हें पत्र लिखना ऐसा है जैसे कोई अपने ही घर का दरवाज़ा खटका रहा हो···उत्तर में उस लड़की का जो पत्र आया वह बहुत साधारण था। शाम का गहरा अंधेरा था जिस समय वह एक काग़ज़ लिये मेरे कमरे में आया। मैं उस समय तक न उस पत्र के बारे में जानती थी, जो उसने लिखा था और न उसके बारे में जो उत्तर में आया था। उसने कहा, 'मामा, मैंने एक लड़की को एक ख़त लिखा था, पर उसकी समझ में ही नहीं आया। वह आपको सुनाऊं?' और उसने मुझे वह ख़त सुनाया। ख़त की रफ कॉपी उसके पास थी। फिर कहने लगा, 'जवाब में जो ख़त आया है वह ऐसा है जैसे मौसम का हाल लिखा हो।' मैंने पूछा, 'अब उसे

और खत लिखना चाहोगे ?' तो वह कहने लगा, 'नहीं, उसका ख़त इतना साधारण है, पढ़कर लगता है जैसे मैं मुख्य दरवाज़े से अन्दर गया और पीछे के दरवाज़े से बाहर आ गया।' और मैंने कुछ दिनों बाद इसी छोटी-सी बात के आधार पर एक कहानी लिखी थी। पर अब जब उपन्यास लिखा तो उसका क्षेत्र बहुत बड़ा था, उसमें यूनिवर्सिटी के होस्टल का जो वातावरण है, वह मेरे अपने लड़के के दोस्त हैं, जवान हो रहे स्वप्नों से चौंकते हुए, भूख, भय और समय से फ़्लर्ट करते हुए—जीवन को अपने-अपने कोण से देखते हुए, और अपनी-अपनी अनुभूति की पीड़ा को झेलते हुए···

बुनियादी घटनाएं मेरे पुत्र के और उसके मित्रों के जीवन की है। पर यह अपने से आगे की पीढ़ी को समझाने का यत्न था। इसमें मैंने अपने आपको चाहे एक दर्शक के समान रखा था, फिर भी अचेतन तौर पर इसके अनेक विचारों में समा जाना स्वाभाविक था। जब मैंने इसे लिखकर अपने बेटे को पढ़ने के लिए दिया तो चाहे उससे भी पहले उसके मित्रों ने इसे पढ़ा, वे अपना चेहरा पहचानते रहे और मुझे कम्प्लीमेंट देते रहे, पर जब मेरे लड़के ने पढ़ा, कई स्थानों पर बहुत कुशलतापूर्वक लिखने पर कम्प्लीमेंट भी दिया, पर कहा—'अगर यह उपन्यास मैं लिखता, तो कुछ और ही तरह लिखता।' यह ठीक है—आख़िर मेरे लिए यह एक पूरी पीढ़ी के फ़ासले को लांघने का यत्न था, पर फ़ासले को लांघने वाले पैर अपने थे, पहली पीढ़ी के, इसलिए 'मेरे समय के आदर्शवाद' का उसमें घुल जाना स्वाभाविक था···

इस उपन्यास के जिन सविता और रवि का विवाह मैंने विस्तार-सहित लिखा है, वे उपन्यास छपने के कई वर्ष बाद, मेरे पुत्र से मिलने आए, मुझसे भी मिले। वे किताब में छपे हुए अपने विवाह के वर्णन को पढ़कर हंसते रहे और मैं अपने पात्रों को देखती रही···अब उनके एक प्यारा-सा बच्चा भी था, उनके घबराकर किये हुए विवाह की परिपुष्टि···

ख़ैर, अपने पात्रों को इस प्रकार देखना, जो एक प्यारा अनुभव है, वह एक अलग बात है। मैं उपन्यास के लेखन-काल की बात कर रही थी। इसका विचार उस पत्र से बंधा था जो मेरे पुत्र ने मुझे होस्टल से लिखा था। उपन्यास में यह पत्र पांचवें परिच्छेद के आरंभ में है जिसमें उपन्यास का मुख्य पात्र कपिल पत्र को समाचारपत्र का रूप देता है, उसका नाम 'द टाइम्स ऑफ़ कपिल' रखता है, और समाचारपत्र के जारी होने की वह तारीख़ लिखता है, जो उसके अपने जन्म की तारीख है, और इस समाचारपत्र की बिक्री सबसे अधिक जिस शहर में होती है, वहां अपनी मां का ऐड्रेस लिखता है। फिर समाचारपत्र के छह कॉलम बनाता है जिनमें ख़बरों की शक्ल में मां को पत्र लिखता है···

मेरे लड़के का नाम नवराज है। पर उसे प्यार से 'सैली' भी पुकारते हैं। मेरे

पास उसका वह पत्र 'द टाइम्स ऑफ़ सैली' अभी तक रखा हुआ है···

वह होस्टल से जब भी छुट्टियों में घर आता था, होस्टल की बहुत-सी बातें बड़े विस्तार से सुनाया करता था। उस पत्र के बाद जब वह आया तो मैंने, उपन्यास शुरू करने से पहले, उसे पास बिठाकर नोट्स लेने शुरू किये···

फिर जब उपन्यास शुरू किया, तो एक बार उसने कहा—'मामा! आपने अपनी ज़िन्दगी को नया मोड़ दिया, पर क्या आप जानती हैं हम दोनों बच्चों ने इसके लिए कितना मैन्टली सफ़र किया है?'

घर टूटता है तो मासूम बच्चे टूटते हुए घर के कंकड़ों को किस तरह अपने शरीर पर झेलते हैं, इसकी पीड़ा मेरे मन में थी। कहा—'जैसे गरीब मां के घर जन्मे बच्चों को मां की ग़रीबी भुगतनी पड़ती है, उसी तरह मन की पीड़ा में से गुज़रती हुई मां के घर जन्मे बच्चों को उसकी पीड़ा भी भुगतनी पड़ती है—मां के नैन-नक़्शों की तरह···'

जानती हूं—इस पीड़ा को मेरे बच्चों ने भुगता है, पर मेरी लड़की ने सारे समय की लम्बाई में कभी भी मेरे साथ हमदर्दी नहीं छोड़ी, पर पुत्र ने कुछ समय के लिए ज़रूर छोड़ दी थी, बचपन से लेकर जवान होने तक के समय में। यह शायद एक के लड़का और एक के लड़की होने का अन्तर था। आज भी मेरी नन्ही-सी अनजान-सी बेटी के वे बोल मेरे कानों में हैं। जब नवराज की किसी समय की बेरुखी से मैं उदास हो जाती थी, तो कंदला कहा करती थी—'मामा! आप बहुत सोचा न करें, सैली बड़ा हो जाएगा तो अपने आप ठीक हो जाएगा।'

ख़ैर, उस दिन मेरे बेटे ने कहा—'मामा! इस उपन्यास में आप उस बच्चे की परेशानी लिख सकती हैं जो मां-बाप का घर टूटने पर वह भुगतता है?'

हां, पूरी जुरअत के साथ'—मैंने कहा, और उपन्यास के अन्तिम भाग में कपिल के 'मिड नाइट विज़न' की शक्ल में उस परेशानी को लिखने की कोशिश की···

मेरे मन को केवल उन्होंने दुखाया है जिनका मेरी ज़िन्दगी से कोई वास्ता नहीं था। उनके साथ केवल एक ही दुःखांतक संबंध था कि मैं उनकी समकालीन लेखिका थी। वह न मेरे पाठक थे, और न वह, जिन्होंने इस पीड़ा में से अपनी-अपनी मुट्ठी भरनी थी।

कंदला ने जिससे विवाह किया है वह मुझे 'दीदी-मां' कहकर बुलाता है, और उसके मन का यह पहला फैसला था कि वह विवाह के समय दूर-पास के लोगों की बरात नहीं जोड़ेगा, और न किसी बेतुकी बात या हरकत के लिए किसी को कोई मौक़ा देगा। विवाह की पेशकश के समय का उसका एक प्यारा-सा जैस्चर मुझे अभी भी याद है। मेरे सिरहाने के पास एक होम्योपैथिक दवा की शीशी पड़ी हुई थी। उसने उसमें से दो-चार मीठी गोलियां खाकर कहा—'बस, मुंह मीठा

हो गया, शगुन हो गया।'—और इस तरह उसने अपने और मेरे मन की हां का जश्न मना लिया। विवाह का दिन कंदला का जन्मदिन चुना—२३ अप्रैल, और उसके केक पर लिखा—'ए डेट विद लाइफ़' और कचहरी जाने के बजाय मजिस्ट्रेट को घर पर बुलाकर विवाह का सर्टिफ़िकेट ले लिया।

मेरे लड़के ने एक गुजराती लड़की से विवाह किया है। विश्वविद्यालय से वह आर्कीटैक्चर की डिग्री और अपनी दुल्हन, दोनों जैसे एक साथ ले आया था। विवाह से पहले वे दोनों दोस्त थे, और सिर्फ़ दोस्त रहने का उन्होंने फ़ैसला किया था। लड़की जानती थी कि उसके गुजराती मां-बाप कभी भी किसी पंजाबी लड़के सेउसे विवाह नहीं करने देंगे, और मेरे लड़के का सोचना था—'अगर मैं ब्याह करने का फ़ैसला कर लूं तो लड़की ज़रूर करेगी, लेकिन मैं फ़ैसला नहीं करूंगा। उसके-मां बाप बहुत ही अमीर हैं, और मैं बहुत अमीर लड़की से ब्याह नहीं करना चाहता।' और वे दोनों सिर्फ़ दोस्ती का हक़ रखते रहे। पर कुछ समय बाद लड़की के पिता गुज़र गए और उसके चाचाओं का सलूक इतना बदल गया कि लड़की अपने भविष्य की ओर से घबरा उठी, कहने लगी, 'मैंने ज़िन्दगी में एक ही सच्चा दोस्त पाया है, उसे घर की किस मर्यादा के पीछे छोड़ दूं ?' और उसने होस्टल से दो दिन के लिए दिल्ली आकर मुझसे कहा कि 'आप अपने हाथों मेरा विवाह कर लीजिये।'

मेरे पुत्र के भी यह शब्द थे—'मामा ! अगर यह लड़की मेरी ज़िन्दगी से चली गयी, तो सारी ज़िन्दगी मेरे मन में इसकी याद रह जाएगी।'

सोचती हूं—उसकी यह मुहब्बत भी एक वह घटना है जो ज़िन्दगी की उलझनों को समझने में उसकी सहायक हुई है और जिसने उसके दृष्टिकोण को बहुत विस्तृत कर दिया है।

विवाह की रस्म करनी थी। यह कैसी भी हो सकती थी। मेरे लिए गुरु ग्रन्थ साहब की मौजूदगी भी उतनी ही पवित्र थी जितनी हवन की अग्नि। यह तो वास्तव में सम्पूर्ण मन की उपस्थिति होती है। मेरे पुत्र ने कहा कि उसे हवन की आग खूबसूरत लगती है। सो, वही सही।

दोपहर के समय लड़के को, जब विवाह की निशानी देने के लिए एक अंगूठी खरीदकर दी, तो उस गुजराती बेटी ने कहा—'मामा ! मुझे भी तो उसे अंगूठी देनी है।'—सो, मैं उसकी भी मां थी, और उसके लिए भी वह अंगूठी खरीदी जिसे उसने मेरे बेटे की उंगली में पहनाना था।

हवन के समय ज्योति के किसी बुज़ुर्ग की ज़रूरत थी जो कन्यादान करता, इसलिए जब पंडित ने पिता की हाज़िरी चाही, तो इमरोज़ ने कहा, 'मैं कन्या का पिता हूं, कन्यादान करता हूं...'

और नवराज और ज्योति का विवाह हो गया—शायद विश्व के इतिहास में

अपने ढंग का यह एक ही विवाह हो!

कोई छह महीने तक गुजराती माता-पिता की ओर से चुप बनी रही, फिर लन्दन से भाई का फ़ोन आया, बहन का, मां का—और कोई एक वर्ष बाद लड़की लन्दन जाकर सबसे मिल आयी। दो वर्ष बाद मां हिन्दुस्तान आयी। अपनी बेटी के सुख से वह सचमुच सुखी थी। लगभग पन्द्रह दिन साथ रही। साथ में भाई भी था जिसने बहन के मनचाहे पति को पहली बार देखा और उसका अच्छा मित्र बन गया।

यह किताबों के नहीं, ज़िन्दगी के पृष्ठ हैं, पर इन पर लिखा हुआ केवल उन लोगों की समझ में आता है जिन्होंने ज़िन्दगी के बवंडर अपने शरीर पर झेले हैं और जो हाथों की ताक़त केवल अपने मन से लेते हैं।

आजकल बासु भट्टाचार्य मेरे और इमरोज़ के बड़े प्यारे दोस्त हैं। वह जब अत्यन्त ग़रीबी के दौर से गुज़र रहे थे, जब उन्होंने अपनी ज़िन्दगी की एक सुन्दर वास्तविकता कमरे में बिठाई हुई थी—अपनी पत्नी रिंकी, फ़िल्म जगत् के बहुत बड़े निर्माता बिमल राय की बेटी—जिसे वह बग़ावत के ज़ोर से अपनी पत्नी बनाकर घर ले आए थे—और दरवाज़े के बाहर, दहलीज़ की परली ओर, ग़रीबी को बिठाया हुआ था, उन दिनों की बात सुनाते हुए वह कहते हैं—'गरीबी थी, पर मैं उसे अन्दर नहीं आने देता था। वह बाहर बैठी रही। घर मेरा था, मैं अन्दर बुलाता तब वह आती न ऐसे ही कैसे आ जाती?'

सोचती हूं—आज यह जो कुछ अपने मन के भीतर का काग़ज़ों पर रखकर दिखा रही हूं, यह केवल उनके लिए है जो संसार की परम्पराओं और कठिनाइयों और उदासियों को दरवाज़े के बाहर बिठाकर, मन के सच को जीने का साहस कर सकते हैं···

कल्पना का जादू

ज़िन्दगी में एक ऐसा समय भी आया था—जब अपने हर विचार पर मैंने अपनी कल्पना का जादू चढ़ते हुए देखा है···

जादू शब्द केवल बचपन की सुनी हुई कहानियों में कभी कानों में पड़ा था, पर देखा—एक दिन अचानक वह मेरी कोख में आ गया था, और मेरे ही शरीर के मांस की ओट में पलने लगा था···

यह उन दिनों की बात है जब मेरा बेटा मेरे शरीर की आस बना था—१९४६ के अन्तिम दिनों की बात।

अखबारों और किताबों में अनेक ऐसी घटनाएं पढ़ी हुई थीं—कि होने वाली मां के कमरे में जिस तरह की तसवीरें हों या जैसे रूप की वह मन में कल्पना करती हो, बच्चे की सूरत वैसी ही हो जाती है···और मेरी कल्पना ने जैसे दुनिया से छिपकर धीरे से मेरे कान में कहा—'अगर मैं साहिर के चेहरे का हर समय ध्यान करूं तो मेरे बच्चे की सूरत उससे मिल जाएगी···'

जो ज़िन्दगी में नहीं पाया था, जानती हूं, यह उसे पा लेने का एक चमत्कार-जैसा यत्न था···

ईश्वर की तरह सृष्टि रचने का यत्न···

शरीर का एक स्वतंत्र कर्म···

केवल संस्कारों से स्वतन्त्र नहीं, लहू मांस की वास्तविकता से भी स्वतंत्र···

दीवानगी के इस आलम में जब ३ जुलाई १९४७ को बच्चे का जन्म हुआ, पहली बार उसका मुंह देखा, अपने ईश्वर होने का यक़ीन हो गया, और बच्चे के पनपते हुए मुंह के साथ यह कल्पना भी पनपती रही कि उसकी सूरत सचमुच साहिर से मिलती है···

ख़ैर, दीवानेपन के अन्तिम शिखर पर पैर रखकर सदा नहीं खड़े रहा जा सकता, पैरों को बैठने के लिए धरती का टुकड़ा चाहिए, इसलिए आने वाले वर्षों में मैं इसका ज़िक्र एक परी-कथा की तरह करने लगी···

एक बार यह बात मैंने साहिर को भी सुनाई, अपने आप पर हंसते हुए। उसकी और किसी प्रतिक्रिया का पता नहीं, केवल इतना पता है कि वह सुनकर हंसने लगा और उसने सिर्फ़ इतना कहा—'वैरी पूअर टेस्ट !'

साहिर की जिन्दगी का एक सबसे बड़ा कॉम्प्लैक्स है कि वह सुन्दर नहीं है, इसी कारण उसने मेरे पूअर टेस्ट की बात कही।

इससे पहले भी एक बात हुई थी। एक दिन उसने मेरी लड़की को गोदी में बैठाकर कहा था—'तुम्हें एक कहानी सुनाऊं ?' और जब मेरी लड़की कहानी सुनने के लिए तैयार हुई तो वह कहने लगा—'एक लकड़हारा था। वह दिन-रात जंगलों में लकड़ियां काटता था। फिर एक दिन उसने जंगल में एक राजकुमारी को देखा, बड़ी सुन्दर। लकड़हारे का जी किया कि वह राजकुमारी को लेकर भाग जाए···'

'फिर ?' मेरी लड़की कहानियों के हुंकारे भरने की उम्र की थी, इसलिए बड़े ध्यान से कहानी सुन रही थी।

मैं केवल हंस रही थी, कहानी में दखल नहीं दे रही थी।

वह कह रहा था—'पर वह था तो लकड़हारा न, वह राजकुमारी को सिर्फ़ देखता रहा, दूर से खड़े-खड़े, और फिर उदास होकर लकड़ियां काटने लगा। सच्ची कहानी है न ?'

'हां, मैंने भी देखा था।' न जाने बच्ची ने यह क्यों कहा।

साहिर हंसते हुए मेरी ओर देखने लगा—'देख लो, यह भी जानती है' और बच्ची से उसने पूछा, 'तुम वहीं थीं न जंगलों में ?'

बच्ची ने हां में सिर हिला दिया।

साहिर ने फिर उस गोद में बैठी हुई बच्ची से पूछा—'तुमने उस लकड़हारे को भी देखा था न ? वह कौन था ?'

बच्ची के ऊपर उस घड़ी कोई देव-वाणी उतरी हुई थी शायद, बोली—'आप···'

साहिर ने फिर पूछा—'और वह राजकुमारी कौन थी ?'

'मामा।' बच्ची हंसने लगी।

साहिर मुझसे कहने लगा—'देखा, बच्चे सब-कुछ जानते हैं।'

फिर कई वर्ष बीत गए। १९६० में जब मैं बम्बई गयी तो उन दिनों राजेन्द्र सिंह बेदी बड़े मेहरबान दोस्त थे। अकसर मिलते थे। एक शाम बैठे बातें कर रहे थे कि अचानक उन्होंने पूछा, 'प्रकाश पंडित के मुंह से एक बात सुनी थी कि नवराज साहिर का बेटा है···'

उस शाम मैंने बेदी साहब को अपनी दीवानगी का वह आलम सुनाया। कहा—'यह कल्पना का सच है, हक़ीक़त का सच नहीं।'

उन्हीं दिनों एक दिन नवराज ने भी पूछा—उसकी उम्र अब कोई तेरह बरस की थी, 'मामा ! एक बात पूछूं, सच-सच बताओगी ?'

'हां।'

'क्या मैं साहिर अंकल का बेटा हूं ?'

'नहीं।'

'पर अगर हूं तो बता दो ! मुझे साहिर अंकल अच्छे लगते हैं।'

'हां, बेटे ! मुझे भी अच्छे लगते हैं, पर अगर यह सच होता मैंने तुम्हें ज़रूर बता दिया होता।'

सच का अपना एक बल होता है, सो मेरे बच्चे को यक़ीन आ गया।

सोचती हूं—कल्पना का सच छोटा नहीं था, पर वह केवल मेरे लिए था—इतना कि वह सच साहिर के लिए भी नहीं।

लाहौर में जब कभी साहिर मिलने के लिए आता था तो जैसे मेरी ही खामोशी में से निकला हुआ खामोशी का एक टुकड़ा कुर्सी पर बैठता था और चला जाता था···

वह चुपचाप सिर्फ़ सिगरेट पीता रहता था, कोई आधा सिगरेट पीकर राखदानी में बुझा देता था, फिर नया सिगरेट सुलगा लेता था। और उसके जाने के बाद केवल सिगरेटों के बड़े-बड़े टुकड़े कमरे में रह जाते थे।

कभी···एक वार उसके हाथ को छूना चाहती थी, पर मेरे सामने मेरे ही संस्कारों की एक वह दूरी थी जो तय नहीं होती थी···

तव भी कल्पना की करामात का सहारा लिया था।

उसके जाने के वाद, मैं उसके छोड़े हुए सिगरेटों के टुकड़ों को संभालकर अलमारी में रख लेती थी, और फिर एक-एक टुकड़े को अकेले बैठकर जलाती थी, और जब उंगलियों के बीच पकड़ती थी तो लगता था जैसे उसका हाथ छू रही हूं···

सिगरेट पीने की आदत मुझे तब ही पहली बार पड़ी थी। हर सिगरेट को सुलगाते हुए लगता कि वह पास है। सिगरेट के धुएं में जैसे वह जिन्न की भांति प्रकट हो जाता था···

फिर वर्षों बाद अपनी इस अनुभूति को मैंने 'एक थी अनीता' उपन्यास में लिखा। पर साहिर शायद अभी तक मेरे सिगरेट के इस इतिहास को नहीं जानता।

सोचती हूं—कल्पना की यह दुनिया सिर्फ़ उसकी होती है जो इसे सिरजता है, और जहां इसे सिरजने वाला ईश्वर भी अकेला होता है।

आखिर जिस मिट्टी से यह तन बना है उस मिट्टी का इतिहास मेरे लहू की हरकत में है—सृष्टि की उत्पत्ति के समय जो आग का एक गोला-सा हज़ारों वर्ष जल में तैरता रहा था उसमें हर गुनाह को भस्म करके जो जीव निकला वह अकेला था। उसमें न अकेलेपन का भय था, न अकेलेपन की खुशी। फिर उसने अपने ही शरीर को चीरकर—आधे को पुरुष बना दिया, आधे को स्त्री—और इसी में से उसने सृष्टि रची···

संसार का यह आदि कर्म, मात्र मिथ नहीं है, न केवल अतीत का इतिहास—यह हर समय का इतिहास है—चाहे छोटे-छोटे मनुष्यों का छोटा-छोटा इतिहास···

मेरा भी···

एक लेखक की ईमानदारी

नेपाल के नेवारी लेखक सायमी धूसवां जब दिल्ली में अपनी एम्बेसी के कल्चरल सेक्रेटरी बनकर आए, कुछ ही मुलाक़ातों में लगा कि उनके अंतर का लेखक उनके डिप्लोमैटिक ओहदे से बड़ा है। उनके अंतर का यह विरोधाभास उनके लिए सुखकर नहीं था—यह और अपनी अन्य निजी उलझनें उन्होंने एक

दोस्त की तरह मेरे साथ बांटीं। जब भी परेशान होते मुझसे मिलने चले आते, नहीं तो फ़ोन ज़रूर करते। ख़ैर, एक दिन मैंने उनकी बिलकुल निजी एक उलझन के बारे में एक कहानी लिखी—'अदालत'। उन दिनों मैं हिन्दी में अपनी कहानियों की एक किताब कम्पाइल कर रही थी 'पंजाब से बाहर के पात्र' और मैंने इस किताब के लिए जो अठारह कहानियां चुनी थीं, उनमें से एक यह 'अदालत' भी थी। किताब प्रेस में चली गयी और मैंने यह ख़बर भी धूसवां साहब को दे दी। हर कहानी के नीचे उसका पात्र जिस देश का था उस देश का नाम दिया था। सो, 'अदालत' कहानी के नीचे नेपाल का पात्र लिखा हुआ था। धूसवां ने मुझसे कहा कि कहानी के नीचे मैं नेपाल शब्द को काटकर कुछ और लिख दूं, नहीं तो एक डिप्लोमैट होने के नाते उन्हें मुश्किल का सामना करना पड़ेगा। मैं यह कभी गवारा नहीं कर सकती थी कि उन्हें कोई तकलीफ़ हो, इसलिए उनके कहने के अनुसार नेपाल की जगह आसाम लिखवा दिया। किताब छप गयी। उन्होंने भी देखी। और मुझे एक नोट लिखकर दिया कि मैं जब अपनी जीवनी लिखूं तब उनका यह नोट उसमें ज़रूर शामिल कर लूं। वह नोट है—'यह कहानी धूसवां की है। पर सांस्कृतिक सहचारी एक माननीय, इतना बुज़दिल और कायर है कि इस कहानी को अजनबी बनाने के लिए अपने देश नेपाल को भारत का एक राज्य आसाम बनाने में उसने हामी भर दी।···

१६.११.७३ धूसवां सायमी'

उस दिन धूसवां मेरी दृष्टि में और भी ऊंचे हो गए। यह उनके अंतर के लेखक की ईमानदारी का आग्रह था। मैंने आदर से सिर झुका लिया।

इस कहानी का उन पर गहरा असर था। उन्होंने अपनी पत्नी को भी यह कहानी सुनायी और अपनी दोस्त लड़की को भी। एक बेचैनी के साथ इस कहानी को बार-बार पढ़ते रहे। जब तीन बार पढ़ चुके तो उन्हें एक बेचैन सपना आया, और वह उन्होंने लिखकर मुझे दे दिया। वह सपना था—

'न जाने सवेरा था या संध्या थी, आकाश उजाले और अंधेरे के मेल में फैला हुआ था। मैं एक नदी की ओर खिचा चला जा रहा था। इस नदी को मैं प्रतिदिन पार कर लेता था, पर उस दिन इस नदी के तट पर अपनी एक प्रेमिका को जो विवाहित थी और बच्चों की मां थी, देखकर घबरा-सा गया। उस नदी को पार करने का मुझे साहस नहीं हुआ। शायद अचेतन मन में, डूब जाने का भय समा गया था। मैं नदी के किनारे-किनारे चलने लगा। पर उस समय सब ओर रेत-ही-रेत दिखाई देने लगी। उस रेतीले स्थल में दो तम्बू लगे हुए थे। मेरी आंखों के सामने तम्बू के अंदर का दृश्य फैल गया। मैं देखता हूं कि इसमें एक पुरुष है, जिसे मैं भली-भांति पहचानता हूं, जिसके भाव और विचार एक यंत्र की

भांति मेरे अंदर ट्रान्समिट हो जाते हैं। उसके सामने तीन तरह के वस्त्र पहने हुए, पर एक ही चेहरे की, तीन युवतियां खड़ी हुई है। पुरुष परेशान-सा हो गया, क्योंकि उनमें से एक उसकी प्रेमिका थी। यह कैसी छलना है ? वह इस चिन्ता में डूब गया। उसके आश्चर्य को देखकर उनमें से एक की आंखों में कम्पन हुआ, और वह आगे बढ़कर उस पुरुष की बांहों में आ गयी। ठीक इसी समय दूसरे तम्बू में से एक व्यक्ति क्रोध से बोलता हुआ आया और उस लड़की को बुरा-भला कहने लगा—'तू इस बन्धन में क्यों बंध रही है ? यह पुरुष तो विवाहित है, यह तो एक भंवरा है।' लड़की ने तुरन्त उत्तर दिया—'मैं यह सब कुछ जानती हूं, फिर भी इसे अपना रही हूं।' इतने में देखता हूं कि दूसरे तम्बू से आए हुए व्यक्ति का सिर धड़ से ग़ायब हो गया। पहले पुरुष ने उस लड़की को सोत्साह अपनी बांहों में कस लिया—और उस समय अचानक मुझे लगा कि मैं, जो अदृश्य हूं, और वह, जो सिरहीन व्यक्ति है, और वह पुरुष जो पूर्ण रूप से वहां था, तीनों मुझमें समाए जा रहे हैं। अचानक आंख खुली तो देखता हूं कि अमृता प्रीतम का कहानी-संग्रह 'एक शहर की मौत' मेरे पास खुला हुआ पड़ा है, जिसकी एक कहानी 'अदालत' मैं तीसरी बार पढ़ते-पढ़ते सो गया था।

१८.११.७३ —धूसवां सायमी'

यूं तो अपनी हर कहानी के पात्र के साथ मेरा साझा है, कहानी लिखते समय मैं उसकी पीड़ा अपने दिल पर झेलती हूं, उसकी होनी कुछ देर के लिए मेरी होनी बन जाती है, और इस प्रकार यह साझा शाश्वत का एक टुकड़ा बन जाता है, परन्तु धूसवां जैसे पात्र मुझ में केवल प्यार और सहानुभूति ही नहीं, अपने लिए आदर भी जगा लेते हैं।

घोर काली घटा

अचानक—एक दिन एक कविता लिखी गयी—
अज्ज शैल्फ़ उत्ते जिन्नियां किताबां सन
ते जिन्नियां अखबारां
ओह इक्क दूजी दे वर्क़े पाड़ के, जिल्दां उधेड़ के
कुज्झ ऐस तरहां लड़ियां
कि मेरियां सोचां दे शीशे काड़ काड़ टुटदे रहे…
मुल्कां दे नक्शे, ते सारियां हद्दां, सरहद्दां

इक्क दूजे नूं वाहों ते लत्तों धरीक के सुटदे रहे…
ते दुनियां दे जिन्ने वी वाद सन, एतक़ाद सन
ओह सारे दे सारे इक्क दूजे दा संघ घुटदे रहे…
घमसान दी लड़ाई अंत्तां दा लहू डुलया
—पर किड्डी अचरज घटना
कि कुज्झ कितावां, अखवारां, वाद ते नक़्शे अजहे सन
जिन्हां दे जिस्म विच्चों—
सुच्चे लहू दी थावें इक्क काला ज़हर वगदा रिहा…[1]

लगा, उदासी…बूंद-बूंद करके इकट्ठी होती रही थी, और उस दिन घोर काली घटा की भांति मेरे सिर पर छा गयी थी। यह अपने समय की निम्न स्तर की पत्रकारिता और समकालीनों की वतकहियों से लेकर, दूर-दूर तक मजहव, समाज और राजनीति की उन हरकतों तक फैली हुई थी जिनकी नसों में लाल खून की जगह काला ज़हर हरकत में होता है…

यह, इतनी पीड़ा भी शायद इसीलिए थी क्योंकि यह काग़ज़ और यह अक्षर मैंने दुनिया में सबसे ऊंची अदब की जगह पर रखे हुए हैं, यहां तक कि प्रतीत हुआ—७५१ में जब चीन के लोगों ने समरक़ंद पर आक्रमण किया और हार गए, तो उनके कुछ लोग अरवों के युद्ध-बन्दी बने। उनमें से जो काग़ज़ बनाने की कला जानते थे उनसे अरबों ने वह कला सीखकर पहली बार काग़ज़ बनाया और

---

१. आज शैल्फ़ पर जितनी किताबें थीं
और जितने अखबार
वे एक-दूसरे के पन्ने फाड़कर, जिल्दें उधेड़कर
कुछ इस तरह लड़े
कि मेरे 'सोचों' के शीशे करड़-करड़ टूटते रहे…
मुल्कों के नक़्शे, और सारी हदें-सरहदें
एक-दूसरे को हाथों और पांवों से घसीटकर फेंकते रहे
और दुनिया के जितने भी वाद थे, विश्वास थे
वे सब-के-सब एक-दूसरे का गला घोंटते रहे…
घमसान का युद्ध—लहू की नदियां वहीं…
…पर कैसी अचंभे की घटना
कि कुछ किताबें, अखबार, वाद और नक़्शे ऐसे थे
जिनके शरीर में से—
शुद्ध लहू की जगह एक काला विष वहता रहा…

भांति मेरे अंदर ट्रान्समिट हो जाते हैं। उसके सामने तीन तरह के वस्त्र पहने हुए, पर एक ही चेहरे की, तीन युवतियां खड़ी हुई है। पुरुष परेशान-सा हो गया, क्योंकि उनमें से एक उसकी प्रेमिका थी। यह कैसी छलना है ? वह इस चिन्ता में डूब गया। उसके आश्चर्य को देखकर उनमें से एक की आंखों में कम्पन हुआ, और वह आगे बढ़कर उस पुरुष की बांहों में आ गयी। ठीक इसी समय दूसरे तम्बू में से एक व्यक्ति क्रोध से बोलता हुआ आया और उस लड़की को बुरा-भला कहने लगा—'तू इस बन्धन में क्यों बंध रही है ? यह पुरुष तो विवाहित है, यह तो एक भंवरा है।' लड़की ने तुरन्त उत्तर दिया—'मैं यह सब कुछ जानती हूं, फिर भी इसे अपना रही हूं।' इतने में देखता हूं कि दूसरे तम्बू से आए हुए व्यक्ति का सिर धड़ से ग़ायब हो गया। पहले पुरुष ने उस लड़की को सोत्साह अपनी बांहों में कस लिया—और उस समय अचानक मुझे लगा कि मैं, जो अदृश्य हूं, और वह, जो सिरहीन व्यक्ति है, और वह पुरुष जो पूर्ण रूप से वहां था, तीनों मुझमें समाए जा रहे हैं। अचानक आंख खुली तो देखता हूं कि अमृता प्रीतम का कहानी-संग्रह 'एक शहर की मौत' मेरे पास खुला हुआ पड़ा है, जिसकी एक कहानी 'अदालत' मैं तीसरी बार पढ़ते-पढ़ते सो गया था।

१८.११.७३ —धूसवां सायमी'

यूं तो अपनी हर कहानी के पात्र के साथ मेरा साझा है, कहानी लिखते समय मैं उसकी पीड़ा अपने दिल पर झेलती हूं, उसकी होनी कुछ देर के लिए मेरी होनी बन जाती है, और इस प्रकार यह साझा शाश्वत का एक टुकड़ा बन जाता है, परन्तु धूसवां जैसे पात्र मुझ में केवल प्यार और सहानुभूति ही नहीं, अपने लिए आदर भी जगा लेते हैं।

घोर काली घटा

अचानक—एक दिन एक कविता लिखी गयी—
अज्ज शैल्फ़ उत्ते जिन्नियां किताबां सन
ते जिन्नियां अखबारां
ओह इक्क दूजी दे वर्के पाड़ के, जिल्दां उधेड़ के
कुज्झ ऐस तर्हां लड़ियां
कि मेरियां सोचां दे शीशे काड़ काड़ टुटदे रहे…
मुल्कां दे नक्शे, ते सारियां हद्दां, सरहद्दां

इक्क दूजे नूं बाहों ते लत्तों धरीक के सुटदे रहे···
ते दुनियां दे जिन्ने वी वाद सन, एतक़ाद सन
ओह सारे दे सारे इक्क दूजे दा संघ घुटदे रहे···
घमसान दी लड़ाई अंत्तां दा लहू डुलया
—पर किड्डी अचरज घटना
कि कुज्झ किताबां, अखबारां, वाद ते नक़्शे अजहे सन
जिन्हां दे जिस्म विच्चों—
सुच्चे लहू दी थावें इक्क काला ज़हर वगदा रिहा···[1]

लगा, उदासी···बूंद-बूंद करके इकट्ठी होती रही थी, और उस दिन घोर काली घटा की भांति मेरे सिर पर छा गयी थी। यह अपने समय की निम्न स्तर की पत्रकारिता और समकालीनों की बतकहियों से लेकर, दूर-दूर तक मजहब, समाज और राजनीति की उन हरकतों तक फैली हुई थी जिनकी नसों में लाल खून की जगह काला ज़हर हरकत में होता है···

यह, इतनी पीड़ा भी शायद इसीलिए थी क्योंकि यह कागज़ और यह अक्षर मैंने दुनिया में सबसे ऊंची अदब की जगह पर रखे हुए हैं, यहां तक कि प्रतीत हुआ—७५१ में जब चीन के लोगों ने समरक़ंद पर आक्रमण किया और हार गए, तो उनके कुछ लोग अरबों के युद्ध-बन्दी बने। उनमें से जो कागज़ बनाने की कला जानते थे उनसे अरबों ने वह कला सीखकर पहली बार कागज़ बनाया और

---

१. आज शैल्फ़ पर जितनी किताबें थीं
और जितने अखबार
वे एक-दूसरे के पन्ने फाड़कर, जिल्दें उधेड़कर
कुछ इस तरह लड़े
कि मेरे 'सोचों' के शीशे करड़-करड़ टूटते रहे···
मुल्कों के नक़्शे, और सारी हदें-सरहदें
एक-दूसरे को हाथों और पांवों से घसीटकर फेंकते रहे
और दुनिया के जितने भी वाद थे, विश्वास थे
वे सब-के-सब एक-दूसरे का गला घोंटते रहे···
घमसान का युद्ध—लहू की नदियां बहीं···
···पर कैसी अचंभे की घटना
कि कुछ किताबें, अखबार, वाद और नक़्शे ऐसे थे
जिनके शरीर में से—
शुद्ध लहू की जगह एक काला विष बहता रहा···

उस पहले काग़ज़ पर जिस हाथ ने पहली कविता लिखी थी, उस हाथ का कम्पन आज भी मेरे हाथ में है···

ओ ख़ुदाया···

एक और कटु अनुभव

मित्रों और परिचितों को धीरे-धीरे अपने से दूर होते देखना, या स्वयं उदास होते देखना, एक बहुत कठोर अनुभव है, पर ज़िन्दगी के इस रास्ते पर भी चलना होता है—चली हूं···

जिन समकालीनों से—एक ही ढंग का अनुभव बार-बार हुआ—शब्दों के वृक्षों से धीरे-धीरे अर्थों के पत्ते झड़ने के समान—दलीप टिवाना उन समकालीनों में नहीं है।

बहुत वर्ष पहले, जब भी मिलती थी, लगता था एक ख़ुलूस है—पर साथ ही लगता था, भीतर से कुछ लेन-देन नहीं होता। फिर कभी छठे-छमासे उसका पत्र आने लगा, तो ऐसा प्रतीत होने लगा कि वह पत्र कभी मुट्ठी भरकर कुछ दे जाता था, मुट्ठी भरकर कुछ ले जाता था। कभी भेंट भी हो जाती थी, पर फिर लगता, मन के पैरों के आगे एक फ़ासला-सा है जो तय नहीं होता और लगता था, यह जहां जो कुछ खड़ा हुआ है, शायद सदा खड़ा रहेगा, एक दूरी पर।

सोचा करती थी—ठीक है, यह भी बहुत है। अगर कोई वस्तु जितनी दूरी पर है, उतनी ही दूरी पर रहे, टिक सके, तब भी बहुत है। पास नहीं आ सकती, न सही, और दूर जाने से ही बच जाए।

पर एक दिन अचानक दलीप का पत्र आया, एक रहस्य को गांठ में बांधकर—'एक बात है, मैं चाहती हूं, आज से तीन दिन बाद बुधवार को आप मेरे पास हों। सवेरे की पहली गाड़ी से आ जाइये, मैं स्टेशन से ले आऊंगी।' और मैंने पत्र पढ़कर सूटकेस में कपड़े रख लिये। न कुछ पूछने का समय था, न पूछने की आवश्यकता, शायद उसी प्रकार जैसे उसे कुछ बताने की आवश्यकता अनुभव नहीं हुई। और फिर मंगलवार को उसका एक्सप्रेस पत्र आया—'अभी आने की आवश्यकता नहीं है। फिर जब होगी, लिखूंगी'। और मैंने पत्र पढ़ सूटकेस में से कपड़े निकाल लिये।

फिर किसी पत्र में उसने रहस्य की गांठ नहीं खोली, न जाने वह कैसा बुधवार था, उस दिन क्या होना था, और उसे मेरी आवश्यकता क्यों थी। पर अपने मन की इतनी जानकारी ही काफ़ी थी कि उस जैसा बुधवार अगर फिर कभी आ

जाए, और वह मुझे फिर पत्र लिखे, तो मैं फिर सूटकेस में कपड़े डाल लूंगी···

मुझे दलीप टिवाना की कहानियां कभी खास नहीं लगी थीं। उनमें किया गया मुहब्बत का वर्णन मुझे उस गोल-से भले-से पेपरवेट जैसा लगता था जिसे कुछ कागज़ों पर रखकर उन्हें बिखरने या गिरने से बचाया जा सकता हो, पर जिसकी किसी नोक में चुभने की शक्ति न हो। उन कहानियों में किसी तिकोने पत्थर को गले से नीचे उतारने वाला दर्द नहीं होता था। पर यह विश्वास अवश्य था कि यह जो कुछ दलीप कागज़ों पर उतारती है, यह असली दलीप नहीं है, यह उसका सहमा हुआ साया है, और मैं एक 'गुच्छा'-सी होकर बैठी हुई उसकी आकृति के अंगों का अनुमान-सा लगाया करती थी···

फिर १९६९ में उसका उपन्यास छपा—'यह हमारा जीवन,' तो लगा, मेरा अनुमान ग़लत नहीं था, सिकुड़कर बैठी हुई दलीप ने इस उपन्यास में अंगड़ाई ली थी, और उसके भरपूर जवान एहसास का अंग-अंग चमक उठा था—पैरों की विवशता, आंखों के आंसू, छाती का रोष और माथे का चिन्तन···

एक दिन अचानक उसका पत्र आया—मेरे लिए नहीं, इमरोज़ के लिए, कि उससे कहना 'नागमणि के टाइटिल पर तुमने जैसी लड़की बनाई है, मैं दुआ मांगती हूं कि ईश्वर मुझे अगले जन्म में वैसी ही लड़की बना दे···' और पत्र में मैंने दलीप के होंठ फड़कते हुए देखे, और देखा—उसके होंठों पर एक हसरत थी जो जमी हुई पपड़ी की तरह टूटना चाहती थी···

मुझे उसकी खामोशी भी स्वीकार थी, और उसके बोल भी···

फिर एक रात के लिए वह दिल्ली आयी···रात अंधेरे से गाढ़ी-सी हो रही थी। वह मेरे एक कमरे में फ़र्श पर बिस्तर बिछाकर अलसाई-सी बैठी हुई थी, और मैंने उसके सामने बैठकर एक रज़ाई का सहारा लगाया हुआ था, कि अचानक उसके मुंह से निकला—'कई लोगों को तो ईश्वर कहीं रखकर भूल जाता है, पर मैं खुद ही अपने आपको कहीं रखकर भूल गई हूं—अब मैं यह भी नहीं जानती कि मैं कहां हूं ? जी करता है—कोई हो जो मेरा अपना-आप खोज कर मुझे दे जाए···'

उस दिन पहली बार मैंने उसमें बेबाकी देखी, ऐसी बेबाकी, जिसके पीछे विश्वास होता है। लगा, शायद यह विश्वास उसे उसके उपन्यास की सफलता की देन है···

वह कह रही थी, 'ईश्वर जब अपना भंडारा बांटने लगा था, तो न जाने मेरे हिस्से की थाली वह मेरे आगे रखनी भूल गया, या मेरे आगे रखी हुई थाली को जल्दी से किसी और ने उठा लिया···पर मैं भूखी रह गयी···वैसे मैंने यह सोच लिया है कि या तो सदा भूखी रहूंगी, या अपने हिस्से की थाली में खाऊंगी··· मुझसे कोई निवाला किसी थाली से और कोई किसी थाली से नहीं खाया

जाता…'

मैं उसके मुंह की ओर देखने लगी, तो वह हंस पड़ी—'मेरी मां के पांच बेटियां हुईं। सबसे पहली मैं थी। मैं मां से कहा करती हूं कि तुमने मुझे जन्म देकर लड़कियां बनाने का ढंग सीखा, क्योंकि मेरी बाक़ी चारों बहनें सुन्दर हैं…'

वह हंस रही थी, पर मुझे हंसी नहीं आयी। कहा—'पर एक ढंग जो उसे सिर्फ़ पहली बार आया, फिर से उस तरह नहीं आया।'

मेरा ध्यान उसके मानसिक सौन्दर्य की ओर था, और उसका केवल शारीरिक सुन्दरता की ओर। पर थोड़ी ही देर बाद उसका ध्यान उधर से हट गया, और उसकी आंखें अपने अंतर की ओर देखने लगीं, और वह कहने लगी—'अकेली औरत को लोग बे-मालिक की खेती के समान समझते हैं, चलो भई डंगर चरा लाएं…कौन-सा किसी ने कुछ कहना है…'

और उसकी हंसी में रोष मिश्रित हो गया, 'मुझे कोई तो ऐसा लगता है जैसे अभी-अभी लोमड़ी से आदमी बनकर आया हो और चालाकियां चलाता हो, कोई ऐसा लगता है जैसे अभी-अभी गीदड़ से आदमी बना हो और मेरे सामने कुछ हो, अपने घरवालों के या घरवाली के सामने कुछ और हो…आदमी हैं ही कहां? एकदम हिप्पोक्रिट्स…दोस्ती करने के लिए खुशामदें करते हैं, पर साथ ही यह सोचते हैं कि उन्हें कोई सामाजिक मूल्य न देना पड़े…मैं जूठी थाली में से कुछ नहीं खा सकती, भूखी रह लूंगी, लेकिन जूठी थाली में से कुछ नहीं खाऊंगी…'

दलीप के चेहरे पर लाली झलक आयी, उसके सिकुड़े हुए-से साये ने उपन्यास में अंगड़ायी ली थी, पर उस घड़ी वह सारी-की-सारी मन की नदी से नहाकर निकली हुई मालूम पड़ती थी…सुलफ़े की लपट की तरह…उस दिन बातें करते और चाय पीते हुए जो रात गुज़ारी, उसे मैंने बाद में 'फ्री ज़ोन में एक रात' के शीर्षक से लिखा।

जानती थी—वह जब छोटी थी तब उस सपने बुनती हुई के हाथों से ज़िन्दगी ने सलाइयां छीन ली थीं और उसके सपने उधड़ गए थे…पर जब १९७२ का साल आया, लगा—ज़िन्दगी अपने कंजूस बरसों का उलाहना उतारने के लिए बहुत उदार हो गयी है, एक साथ तीन हाथ उसकी ओर बढ़े, उसका हाथ पकड़ने के लिए। एक शोहरत का हाथ था, जिसने उसके क़लम को अकादमी का अवार्ड दिया, और मुसकरा पड़ा। और दूसरे—दो मर्दों के हाथ थे जो उसका साथ मांग रहे थे।

दलीप ने मुझे पटियाला से आवाज़ दी, मैं गयी, तो देखा ज़िन्दगी की इस उदारता को हाथों से छूने के लिए, उसके कांपते हुए हाथ आगे भी बढ़ रहे थे, और आगे बढ़ने से घबरा भी रहे थे।

उन दोनों में से एक को दलीप बरसों से जानती थी और दूसरे को सिर्फ़ कुछ

महीनों से। अजीब संजोग था कि जिसे वह बहुत जानती थी, उसे मैं भी कुछ जानती थी, और जिसे वह थोड़ा-सा जानती थी, उसे मैं बिलकुल नहीं जानती थी—पर उसके हाथ उस ओर बढ़ रहे थे जिधर उसका कुछ भी जाना-पहचाना नहीं था।

मैंने एक-दो बार, मन की स्पष्टता के लिए, कुछ तर्कों का सहारा लिया, पर देखा—तर्कों से भी आगे कहीं कुछ था जो सोती-जागती दलीप को बुला रहा था। बुलावा उसने न जाने कैसे सुना था कि उसके कान मन्त्रमुग्ध-से लगते थे—इतने कि तर्क सुनाई नहीं देते थे। मैं चुपचाप उसके पास खड़ी हो गयी, उसके साथ। यह समय शायद कुछ कहने का नहीं था, यह केवल उसके साथ खड़े होने का था।

उसने कहा—'एक छोटी-सी रस्म करनी है···पर पटियाला में नहीं।'

उत्तर में यही कह सकती थी, कहा—'तुम्हारा घर सिर्फ़ पटियाला में ही नहीं, दिल्ली में भी है।'

उस दिन वह अपने घर से मेरे साथ अपनी यूनिवर्सिटी तक आयी। वहां उसे उससे मिलना था जिसके ख़यालों से वह भरी हुई थी। और फिर वहां से ही मुझे दिल्ली लौटना था···

यूनिवर्सिटी के बाहरी गेट के पास पहुंचकर वह मन के सेंक से लाल-सी हो गयी, और फिर अचानक कई शंकाएं उसके मन पर काले पंखों की तरह आ घिरीं, और वह घबराकर कहने लगी—'नहीं, अब मैं ऐसी ही ठीक हूं, अब बहुत देर हो गयी है···वह मुझसे उम्र में छोटा है···'

पर वह जब अन्दर कमरे में जाकर उसे बाहर बुला लायी, उसके मन का सेंक फिर एक लाल रंग की तरह उसके चेहरे पर पुत गया।

बालों को वह कसकर संवारती और बांधती है, लेकिन उस दिन उसके बौराए हुए-से बाल उड़ रहे थे। वह एक हाथ से बालों की लट को संभालती थी, और दूसरे हाथ से ज़िन्दगी के अचंभे को···

वहां से धीरे-धीरे गाड़ी चलाते, और बातें करते, हम राजपुरा तक आ पहुंचे। इस सारे रास्ते में 'उस' ने दलीप का हाथ अपने हाथ में लिये रखा था, इसलिए मैंने हंसकर कहा—'इसी तरह बैठे रहो! अभी चार घंटे में दिल्ली पहुंच जाएंगे।'

दलीप चौंकी—'नहीं, आज नहीं, दस-पन्द्रह दिन में, जब अवार्ड लेने के लिए दिल्ली जाऊंगी···तब···'

दोनों वहां राजपुरा उतर गए, और मैं दिल्ली आ गयी। दिल्ली में मैं अकेली थी, तर्कों को हाथ से परे करने वाली दलीप मेरे पास नहीं थी, इसलिए वे तर्क मेरे गिर्द घिर गए, और घबराकर मेरा जी किया—दलीप को फिर एक बार वे सब तर्क दूं।

एक फ़ोन नम्बर मेरे पास था, दलीप के पड़ोसियों का। रहा न गया, रात को वह नम्बर मिलाया, दलीप को फ़ोन पर बुलाया और कहा—'एक बार फिर सोच लो, दलीप ! उस दूसरे को···'

लगा—मेरी आवाज़ उसके कानों को छूकर इधर मेरे पास ही लौट रही थी, भले ही उसने तब कहा था—'अच्छा, सोचूंगी···।' पर जान लिया, उसने जो सोच लिया है, उससे अलग अब वह कुछ नहीं सोचेगी।

अपने आपको तर्क दिया—'उस दूसरे को मैं कुछ जानती हूं, शायद इसीलिए मैं इस तरह सोच रही हूं—यह जानना ही शायद वह पासंग है जो उस पलड़े को भारी कर रहा है···।'

सो, मान लिया—जो दलीप चाहती है, वही ठीक है।

३० मार्च को दलीप को अवार्ड मिलना था, वही अवार्ड उसके विवाह की सौग़ात बन गया। संध्या का समय पूजा और हवन की सामग्री से महका हुआ था। कन्यादान के लिए इमरोज़ ने हाथ आगे किया, और भाई की जगह मेरे बेटे ने खड़े होकर दलीप का पल्ला थमाया।

दलीप को वह घटना याद थी—मेरे बेटे के विवाह वाली, जब उसकी गुजराती दुल्हन के कन्यादान के समय, उस ख़ाली जगह को भी इमरोज़ ने भरा था। आज जब दलीप की ज़िन्दगी की खाली जगह पर भी इमरोज़ खड़ा हो गया तो दलीप ने उसे 'अजन्मी बेटियों का बाबुल' कहकर मेरे रिश्ते से नहीं, सीधे अपने रिश्ते से उससे संबंध जोड़ लिया।

तीन दिन बाद दलीप को उसके पति के साथ भेजते समय मन इस तरह भर आया जैसे सगी मां के या सगी बहन के मन में कुछ घिर आता है। और उस घड़ी मैंने पहली बार 'उसे' एक तगड़े मर्द के रूप में देखा, जब उसने कहा—'अब आप लोग कोई चिन्ता न करें'—सचमुच, उस घड़ी लगता था कि वह दलीप से अधिक आयु का हो गया है।

यह मन की आयु किस हिसाब से घटती-बढ़ती है—पकड़ में नहीं आता। इमरोज़ भी कई बार मेरे बावन वर्षों के दो को पांच के इधर करके उसे पचीस बना लिया करता था, और अपने छियालीस वर्षों के चार और छः को इधर से उधर करके चौंसठ वर्ष का हो जाया करता था···।

दलीप का रूप भी उस दिन ऐसा ही था—मानो वह अपनी आयु के सैंतीस-अड़तीस वर्ष माइयें[1] पड़ी रही हो, और अब लाल-हरे वस्त्र पहनकर उसे लोकगीतों की गोरी के समान रूप चढ़ा हो···।

---

१. पंजाब में विवाह की एक रस्म जिसमें विवाह से लगभग पन्द्रह दिन पूर्व लड़की अच्छा कपड़ा नहीं पहनती और न तेल-उबटन लगाती है।

फिर अजीव दिन आए। मेरे लिए एक ही नदी में जैसे एक किनारे 'ठंडा-ठार' पानी वहता हो, और दूसरे किनारे पर गर्म उवलता हुआ। वह, जिसे दलीप ने अपने साथ के लिए नहीं चुना था—मैंने उसकी दीवानगी का आलम भी देखा··· उसकी वे कविताएं सुनीं जिन्हें केवल मन में जलती हुई आग ही लिखवा सकती है।

उसने अपनी मुहब्बत की तक़दीर को स्वीकार कर लिया था, पर वह मन की भीतरी तहों तक वीतराग हो गया था। कभी किसी दिन मुझे उसका पत्र आ जाता, जिसमें मरने की कामना से भरी हुई एकाध पंक्ति होती, और कुछ नहीं।

मैं उसकी उदासी के कारण उदास थी, पर दलीप को खुश देखना चाहती थी, इसलिए कभी उसकी बात दलीप को नहीं सुनाई। दलीप को खुश देखना उसकी भी लगन थी, और उसने दलीप के रास्ते से गुजरना भी छोड़ दिया—यद्यपि अपने जीवन की सभी राहों पर उसे केवल दलीप ही दिखायी देती थी।

जानती हूं—दलीप के मन में वह नहीं था, जो कुछ था, उसके अपने ही खयालों का जादू था। पर जादू जादू होता है, जब उसके क़लम में उतरता, कविता वन जाता।

मेरे पास उसका एक पत्र अभी तक संभालकर रखा हुआ है—'जब से दिल्ली से आया हूं, आपको कुछ नहीं लिखा। जब भी लिखने को जी करता है, मेरी रुलाई निकल जाती है। न जाने क्यों हर समय शराव पीने को जी करता रहता है। ···आपका उपन्यास 'दिल्ली की गलियां' क्या वहां समाप्त नहीं हो सकता था, जहां कई वर्षों वाद जव सुनील कामिनी के दफ़्तर मिलने के लिए आता है, चार वजे, और पांच वजे फिर आने के लिए कह जाता है और इस दौरान कामिनी नासिर को फ़ोन करके यह सव-कुछ वता देती है, और नासिर कहता है कि तुम्हें ज़रूर उसके साथ जाना चाहिए···जो भी नासिर है, वह यही कहता···नासिर ने सदा यही कहा है, यही कहेगा···और नासिर कभी कामिनी का नहीं हो सकेगा··· पर आपने कहानी में नासिर से क्यों कामिनी का दरवाजा खटकवाया? क्यों? नासिर को कभी यह नसीव नहीं हुआ। उसकी नियति है कि उसे हर राह पर चलना है, हर रंग में जीना है···मैं आजकल न पटियाला हूं, न चंडीगढ़, न लुधियाना, न गांव। हां, इन शहरों को मिलाने वाली सड़कों पर सफ़र कर रहा हूं, भटक रहा हूं···पर यह कहना शायद इस तरह लगेगा जैसे मैं तरस का पात्र वन गया होऊं···आपका अपना, जिसका आज कोई एड्रेस नहीं है···।'

मैंने यह पत्र दलीप को कभी नहीं सुनाया, पर सुना—उसके घर का पता भी उससे खोया जा रहा है।

दलीप के नहीं, उसकी मां के वोल कानों में पड़े—'सव पिछले जन्मों के हिसाव-कितात्र होते हैं, वेटी।'

दलीप से जब भी पत्र लिखकर पूछा तो वह हर बार जवाब को टाल देती, और कुछ इस तरह की बात लिख देती—'आप मेरी चिन्ता न किया करें··· सांस और शक्ति खत्म होती महसूस होती है, बुखार आता रहा था···पर आप चिन्ता मत करना···मौत के निकट आने का एहसास भी अजीब होता है। फिर बुखार चढ़ने लगा है···मेरी चिन्ता मत कीजिएगा···।'

यह 'चिन्ता न कीजिए' मानो उसका तकिया-क़लाम बन गया था। हर पत्र में यही वाक्य। पगली ने इतना न सोचा कि वह जब बार-बार कहेगी—'चिन्ता न कीजिए' तो उसमें से कितनी चिन्ता छनेगी ?

केवल एक पत्र में उसने लिखा—'आपने कभी एक कविता लिखी थी—'फूलों का था इक क़ाफ़िला, मरुस्थल से गुज़रा था। आज मेरा जी चाहता है एक उपन्यास लिखूं जिसका आरम्भ भी इसी से हो, और अन्त भी···'

यह पत्र बहुत कुछ कह गया, बन्द होंठों से भी। और बाद में तो उसके पत्रों की पंक्तियां और भी कम होती गयीं, और पत्रों का अन्तराल बढ़ता गया···

एक बार फिर उसका एक गूंगा-सा पत्र आया—आज 'अजन्मी बेटियों का बाबुल' याद आ गया तो पत्र लिखने बैठ गयी। आपने कहा था न कि अपने दोस्तों पर विश्वास न छोड़ना···

और लम्बे अरसे के बाद जब एक बार दलीप मिली तो पूछा—दलीप ! तुम्हारी प्रकाशित हो रही पुस्तक का समर्पण है—'इतिहास केवल इतिहास की पुस्तकों में नहीं होता। पुस्तकों में लिखे जाने से बहुत समय पहले इतिहास लोगों के शरीरों पर लिखा जाता है। और यह पुस्तक समर्पित है उन लोगों को जो इतिहास को अपने शरीरों पर लिखा जाना झेलते हैं।' सो, एक तरह से यह पुस्तक तुमने अपने आपको समर्पित की है।

वह कहने लगी—आप कहती हैं तो ठीक ही कहती होंगी।

कहा—फिर उस इतिहास की बात करो जिसका शरीर पर लिखा जाना तुमने झेल लिया है।

उसने आवाज़ दबा ली, बोली—सब बातें शब्दों में नहीं कही जातीं।

पूछा—कभी मैंने लिखकर तुम्हारी बातें की थीं और उन बातों का नाम रखा था 'फ्री ज़ोन में एक रात' पर आज की बातें अगर लिखूं तो उनका क्या नाम रखूं ?

कहने लगी—फ्री ज़ोन के उलटे शब्द क्या होते हैं ? जो होते हों, वही रख दीजिए।

आंखों में पानी-सा भर आया, कहा—नहीं, फ्री ज़ोन नहीं···

सोचती हूं—यह भी शायद ज़िन्दगी का एक मोड़ है···हो सकता है मोड़ बदलकर ज़िन्दगी उसे फिर उस हंसते हुए रास्ते पर डाल दे जो उसने १९७२

के शुरू में ढूंढा था···

पर दोस्तों को क़दम-क़दम उदासी के रास्ते पर चलते हुए देखना बहुत कठिन अनुभव है···

एक सिजदा

१९७३ का अगस्त, अठारह तारीख। अशोका होटल से फ़ोन आया—'मैं पाकिस्तान से सुलह की बातचीत करने के लिए जो डेलीगेशन आया है उसका एक मेम्बर बोल रहा हूं···'

खाना खा रही थी, हाथ का ग्रास हाथ में रह गया। मन के अन्ततंम में एक तृप्ति का आभास हुआ। घड़ी की ओर देखा—आधा घंटे में वह फ़ोन वाला भला आदमी मुझे सज्जाद का खत और उसकी भेजी हुई एक किताब देने आ रहा था···

आधा घंटे बाद आने वाले को लैंपशेड पर पेंट किया हुआ फ़ैज़ का शेर दिखाया और लाइब्रेरी की अलमारियों पर पेंट किया हुआ क़ासमी का शेर दिखलाया। कहा—'इस बार सुलह की बातचीत को पूरा करके जाना, उन देशों में आपस में काहे की दुश्मनी जिनके शेर एक-दूसरे के घरों की दीवारों पर बैठे हुए हैं···'

प्यारा-सा जवाब मिला—'इन्शा-अल्लाह ज़रूर सुलह होगी।'

और उस भले दूत के जाने के बाद खत खोला, अक्षरों का जादू देखा जो काली स्याही में नहाकर, लगता था, सुनहरी हो गए हैं—'ऐमी! तुम्हें खत भेजने का मौका गंवाया नहीं जा सकता जब भी कोई मेहरबान सरहद को चीरने लगता है। मेरा पिछला खत तुम्हें रोम से पोस्ट हुआ था—वह एक उस दोस्त ने किया था जो हमारे पहले प्रेसिडेंट के साथ वहां गया था। मुझे उम्मीद है मिल गया होगा। इस बार एक ऐसा संजोग बना है कि यह खत शायद तुम्हें दस्ती पहुंचाया जा सके। इसे लेकर आनेवाला मेरा एक प्यारा दोस्त है—वह शायद तुम से मिलना भी मुमकिन कर ले। मैं तुम्हें देखना चाहता हूं—इतना, कि चाहे एक एतबारी दोस्त की आंखों से ही देखूं। मैंने उससे कहा है—फ़ोन करे, पूछे कि मुलाक़ात मुमकिन हो सकती है? अगर हो जाए, तो वह जब वापस आएगा, मैं उससे कितनी देर तक कितने ही सवाल पूछता रहूंगा—वह कैसी लगती है? वह कैसे कपड़े पहने हुए थी? क्या वह हंसी थी? मेरे बारे में उसने क्या कहा था? वह अभी भी उसी तरह से है?—एक सौ सवाल। वह खुशनसीब है—मैं एक

उड़ते हुए पल की मुलाक़ात के लिए तरसा हुआ हूं…'

खलील जिब्रान ने जब कहा था—'ज़िन्दगी का मक़सद ज़िन्दगी के भेदों तक पहुंचना है—और दीवानगी इसका एकमात्र रास्ता है।' मैं सोचने लगी—तब मेरे सज्जाद का नाम खलील जिब्रान था…

मुझे अपनी दीवानगी पर गर्व है—पर आज वह भी सज्जाद की दीवानगी के सामने सिजदे में झुकी हुई है।

ईश्वर-जैसा भरोसा

ज़िन्दगी में बहुत से ऐसे दिन आये हैं जब हाथ में थामे हुए कलम को गले से लगाकर रोयी हूं—

'ईश्वर-जैसा भरोसा तेरा' न जाने कब और कौन किसी का यह बन जाता है…

यह कलम मेरे लिए सदा हाज़िर-नाज़िरखुदा के समान रहा है—इसे आंखों से देख सकती हूं, हाथों से छू सकती हूं, और एक सूने कागज़ की तरह इसके गले लग सकती हूं…

इसका और अपना रिश्ता कुछ 'अक्षर' कविता में डाल सकी थी[1]—

फेर ओहियो हवा, जिहने झोली' च खिडाया
ते जिहने मेरी मां दी मां दी मां नू जाया
कितों दौड़ के आयी—
ते हत्थां दे विच्च कुज्झ अक्खर ले आयी
'एह निक्कियां कालियां लीकां ना जाणी
एह लीकां दे गुच्छे तेरी अग्ग दे हाणी…'
ते ऐस तरहां कहन्दी ओह लंघ गई अग्गे
'तेरी अग्ग दी उमरा ऐनां अक्खरां नूं लग्गे!'

---

१. फिर वही हवा जिसने गोदी में खिलाया
और जिसने मेरी मां की मां की मां को जाया
कहीं से दौड़कर आयी—
और हाथों में कुछ अक्षर ले आयी
'इन्हें नन्ही काली लकीरें न समझना

आधी शताब्दी के इस अरसे में कुछ और शौक़ भी लग गए थे—सबसे पहले फ़ोटोग्राफ़ी का था। पिताजी ने घर में डार्क-रूम बनाया हुआ था, इसलिए फ़िल्म धोते और नेगेटिव से पाज़िटिव बनाते समय—खाली क़ागज़ों पर उभरते-चमकते चेहरे—एक संसार रचने के समान लगते थे। कुछ अरसे तक इस शौक़ ने मन को पकड़े रखा। फिर डांसिंग ने मन और ध्यान खींच लिया। लाहौर में तारा चौधरी से कोई छह-आठ महीने सीखा, पर जब तारा ने स्टेज पर अपने साथ काम करने का बुलावा दिया तो घर से इजाज़त नहीं मिली। शौक़ मुरझा गया। यह सूखे पत्तों की तरह ज़मीन पर गिरा तो एक नये बीज के रूप में अंकुरित हुआ—सितार बजाने का शौक़। हिन्दुस्तान के विभाजन के समय तक यह शौक़ बहुत खिले हुए रूप में था। लाहौर रेडियो स्टेशन से कई बार सितार बजाया—मास्टर राम रखा, सिराज अहमद और फीना सितारिया मेरे उस्ताद रहे थे। इसके साथ-साथ टैनिस खेलने की भी ललक थी। लाहौर के लारेन्स गार्डन में पीछे की तरफ के लॉन पर रोज़ जाकर टैनिस सीखती थी। परदेश का विभाजन होते ही ये सब शौक़ मेरे लिए अजनबी हो गये। इनके लिए जैसी फ़ुरसत और जैसी सहूलियतों की आवश्यकता थी, उनके लिए जीवन में कोई स्थान नहीं रह गया, इसलिए ये शौक़ बेगाने हो गये।

सामने—ग़मे रोज़गार था। अचानक एम. एस. रंधावा से १९४८ में मुलाक़ात हुई तो उन्होंने दिल्ली रेडियो स्टेशन के डाइरेक्टर को पत्र लिखकर मुझे नौकरी दिलवा दी। बारह बरस यह नौकरी की।

इस नौकरी के पहले कुछ वर्षों में कांट्रैक्ट रोज़ाना के हिसाब से था, पांच रुपये रोज़ के हिसाब। जिस दिन बीमार हो जाऊं या छुट्टी ले लूं, उस दिन के पांच रुपये काट लिये जाते थे। इसलिए बीमार होने का भी शरीर को अधिकार नहीं दे सकती थी। कभी-कभी बुख़ार और ज़ुकाम से आवाज़ रुक जाती तो मुश्किल आ पड़ती थी। आज याद आ रहा है—मेरे सेक्शन का मेरा एक कोलीग कुमार हुआ करता था। ऐसे में वह मेरे स्थान पर अनाउन्स कर दिया करता था—लम्बी अनाउन्समेंट वह कर देता था, बहुत छोटी मुझसे करवा देता था ताकि उस दिन की रिपोर्ट में ग़लत भी कुछ न लिखना पड़े और उस दिन के पांच रुपये भी मुझे मिल जाएं।

देखा—ज़िन्दगी के हर उतार-चढ़ाव के समय जो मेरे साथ रही थी वह मेरी लेखनी थी। चाहे कोई घटना मुझ अकेली पर घटती, चाहे देश के विभाजन

ये लकीरों के गुच्छे तेरी आग के साथी...'
और इस तरह कहते-कहते वह बढ़ गयी आगे—
'तेरी आग की उम्र इन अक्षरों को लग जाए।'

जैसा कोई कांड लाखों लोगों के साथ हो जाता, यह लेखनी मेरे अंगों के समान मेरा एक अंग बनकर रहती थी। सो, केवल यहीं जिन्दगी का फ़ैसला था। अन्य सब शौक़ जैसे खाद बनकर इसके रगो-रेशे में समा गए।

न जाने जिन्दगी में कौन-सी सुगन्ध के लिए क्या-क्या खाद बन जाता है··· साहिर और सज्जाद की दोस्ती भी, लगता है, इमरोज़ की दोस्ती के खिले हुए फूल में कहीं शामिल है, भले ही खाद बनकर उसे उर्वर बनाने के रूप में।

इधर दो-तीन बरस हुए साहिर से मुलाकात हुई तो उसका तकाज़ा ऐसा खूबसूरत था, दो दिन उसके घर रही। वापस आकर दो कविताएं लिखीं: 'कई वरयां दे पिच्छों अचानक इक मुलाक़ात, ते दोहां दी जिंद इक नज़म वांग कम्बी'[1] ···पर इस कांपती हुई खूबसूरती के बावजूद, वह हालत मैंने सिर्फ़ इमरोज़ के साथ देखी है जिसमें उसके यह कहने पर 'मैं १९६० का तुम्हारा क़ुसूरवार हूं, यह १९६० का बरस मेरा बचपन था, मेरा क़ुसूर था'—और चाहे मैंने उसके 'क़ुसूर की पीड़ा में से 'जनम जली' जैसी कई कविताएं लिखी थीं, पर आज सहज मन से यह कह सकती हूं—'तुम्हारे और मेरे क़ुसूर क्या अलग-अलग हैं ?'

यह 'आज' है। न जाने कितने 'कल' इसकी खाद बने हैं···

यह 'आज' मेरी उम्र-जितना लम्बा हो, यह चाह सकती हूं, पर अगर किसी दिन यह 'आनेवाला कल' न बनना चाहे तो भी लगता है, कह सकूंगी—'हमारे क़ुसूर अलग-अलग नहीं।'

इस 'आज' की कोई भी 'कल' न हो, तब भी इसके अर्थ कम नहीं होते।

इमरोज़ मुझसे साढे छह बरस छोटा है। मुझसे अब धूप और मेंह नहीं सहे जाते, पर उसे इनसे कोई फ़र्क़ नहीं पड़ता। कई बार हंसकर कहती हूं—खुदा एक जवानी तो सबको देता है, पर मुझे उसने दो दी हैं—मेरी ख़त्म हो गयी तो दूसरी उसने मुझे इमरोज़ की सूरत में दे दी। जिसके हिस्से में दो जवानियां आएं उसके 'आज' को 'कल' का क्या अरमान हो सकता है !

जब 'रोजी' कविता लिखी थी 'जोई कमाणा सोई खाणा, ना कोई किणका कल दा बचया, ना कोई भोरा भलक वास्ते'[2] तब उस 'आज' की आंखों में पीड़ा के लाल डोरे थे। इस तक़दीर को स्वीकार किया था, पर दांतों तले होंठ दबाकर···

आज यह तक़दीर मन की सहज अवस्था है···

अब—जिस घड़ी भी सब कुछ से विदा होना पड़े तो सहज मन से विदा हो

---

१. कई बरसों के बाद अचानक एक मुलाक़ात, और दोनों एक नज़्म की तरह कांप गए···

२. जो कमाना वही खाना, न कोई टुकड़ा कल का बचा, न तिल मात्र कल के लिए···

सकती हूं। केवल चाहती हूं—जिनका मेरे होने, मेरे जीने से कोई वास्ता नहीं था, उनका मेरी मौत से भी कोई वास्ता न हो। ऐसे अवसरों पर प्रायः वे लोग इर्द-गिर्द आकर खड़े हो जाते हैं, जो कभी पल का भी साथ नहीं होते, केवल भीड़ होते हैं। भीड़ का मेरी ज़िन्दगी से भी वास्ता नहीं था। चाहती हूं, इसका मेरी मौत से भी वास्ता न हो। राह-रस्म कभी भी मेरी कुछ नहीं लगती थीं। वे लोग किसी 'भोग' या शोक-सभा के रूप में तब भी कुछ झूठ-सच बोलने का कष्ट न करें।

पंजाबी का कोई अखबार-रिसाला ऐसा नहीं था जिसे खोलते हुए मुझे यह मालूम नहीं होता था कि इसमें किसने क्या मेरे विरुद्ध उगला होगा (कई जो मुझ से पहले इमरोज़ के हाथ आ जाते थे वह उन्हें मुझसे छिपाकर फाड़ देता था। इसका कुछ वर्णन मेरे उपन्यास 'दिल्ली की गलियां' में आया था। उसमें इमरोज़ 'नासिर' के रूप में था)—और मेरी मौत के बाद उन्हीं अखबारों के 'शोक' एक बहुत बड़ा झूठ होंगे। और मैं समझती हूं—किसी भी लाश के पास अगर कोई फूल-पत्ता नहीं रख सकता तो उसे झूठ जैसी वस्तु रखने का भी कोई अधिकार नहीं है। इमरोज़ ने यथाशक्ति मुझे जीती को भी इन झूठों से बचाया था, उससे ही कह सकती हूं—कि वह किसी झूठ को मेरी लाश के पास न फटकने दे…

मेरी मिट्टी को सिर्फ़ मेरे बच्चों के, और इमरोज़ के हाथ काफ़ी हैं।… सिर्फ़ काफ़ी नहीं, ग़नीमत है।

मरी हुई मिट्टी के पास, किसी ज़माने में, लोग पानी के घड़े या सोने-चांदी की वस्तुएं रखा करते थे। ऐसी किसी आवश्यकता में मेरी कोई आस्था नहीं है—पर हर चीज़ के पीछे आस्था का होना आवश्यक नहीं होता—चाहती हूं इमरोज़ मेरी मिट्टी के पास मेरा कलम रख दे।

एरिक हॉफ़र के शब्दों में मनुष्य ख़ुदा की एक अधूरी रचना है और उसका प्रत्येक संघर्ष ख़ुदा के अधूरे छोड़े काम को पूरा करने का प्रयत्न होता है। कभी अपने 'यात्री उपन्यास के संबंध में कुछ पंक्तियां लिखते हुए मैंने लिखा था—'यह अपने से आगे अपने तक पहुंचने की यात्रा है।' आज एरिक हॉफ़र को पढ़ते हुए लगा—यह अपने से आगे अपने तक पहुंचने का प्रयत्न कदाचित् अधूरे-स्वयं को कुछ न कुछ पूर्ण करने का ही प्रयत्न है…इसीलिए जो लेखनी इस सम्पूर्ण रास्ते में मेरे साथ रही, चाहती हूं—मांस के मिट्टी हो जाने की सीमा तक मेरे साथ रहे!

छोटा सच : बड़ा सच

रोज़ सवेरे पेड़-पौधों को पानी देना मेरे सबसे प्यारे कामों में शुमार है। रोज़ सवेरे जितनी देर पानी देती हूं, इमरोज़ हाथ में सवेरे का अख़बार लिये साथ साथ मुझे ख़बरें सुनाता है। पहले अगले आंगन में, फिर पिछले और फिर बीच के आंगन में। एक दिन पेड़ों के इर्द-गिर्द लगाया हुआ मनी-प्लांट इमरोज़ को दिखाया, और कहा—'देखो, यह मनी-प्लांट कैसा बेलों की तरह बढ़ गया है' तो उसने उत्तर दिया—'तुमने तो पानी दे-देकर वारिस शाह की बेल को भी बढ़ा दिया है, यह तो सिर्फ़ मनी-प्लांट है।'

कभी-कभी खुशी और उदासी एक साथ आ जाती हैं, कहा—'वारिस शाह की बेल को दिल का पानी दिया था, दिल का भी, आंसुओं का भी···पर याद है तुम्हें वह समय जब तुमसे पहली बार मिली थी तो यह ख़बर चारों तरफ़ फैल गई थी। तभी जब जालंधर में किसी समागम के प्रधान पद के लिए मेरा नाम प्रस्तावित हुआ तो कम्यूनिस्ट पार्टी के एक नेता ने कहा था—नहीं, हम उसे नहीं बुलाएंगे, उसकी बदनामी के कारण हमारी सभा बदनाम हो जाएगी।'

उसी शाम को दिल्ली के खालसा कॉलेज ने मुझे रिसेप्शन दिया था—दिल्ली यूनिवर्सिटी से डी० लिट्० की डिग्री मिलने के सिलसिले में। मन में वही सवेरे का माहौल था, उनका शुक्रिया अदा करके कहा—'लेखक हर हाल में लेखक है, मौसम चाहे शोहरत का हो, चाहे गुमनामी का चाहे बदनामी का···'

अब—समय बीत जाने पर, शोहरत को, गुमनामी को और बदनामी को ज़िन्दगी के मौसम कह सकती हूं। तसल्ली भी है कि सब मौसम देखे हैं। पर पहले—कई बरस पहले—इन मौसमों से गुजरना बहुत कठिन लगता था।

ज़िन्दगी, इमरोज़ के साथ में, कोई समतल वस्तु नहीं है, यह अति की ऊंचाइयों और निचाइयों से भरी हुई है। इसमें दो व्यक्तित्व मिलते हैं और टकराते हैं—नदियों के पानियों की भांति मिलते हैं, और दो चट्टानों की भांति टकराते हैं। पर चौदह बरस (राम-वनवास जितने बरस) के अनुभव के बाद कह सकती हूं कि इस राह की निचाइयां छोटा सच है और इस राह की ऊंचाइयां बड़ा सच है।

इमरोज़ का व्यक्तित्व दरिया के प्रवाह के समान है। जैसे दरिया एक सीमा स्वीकार करता है, पर नहर जैसी पक्की बंधी हुई सीमा नहीं, चाहे तो अपने प्रवाह का रुख भी बदल सकता है। इमरोज़ के लिए कोई रिश्ता केवल तब तक रिश्ता है जब तक वह बंधन नहीं है। रिश्ते अकसर अपने स्वाभाविक स्वतन्त्र रूप में नहीं होते—कभी उनकी नकेल क़ानून के हाथ में होती है, तो कभी सामाजिक कर्तव्य के, पर इमरोज़ के शब्दों में—'अगर राह अपनी है तो राहदारी की क्या ज़रूरत

है ?'—हर क़ानून 'राहदारी' होता है। इमरोज़ को यह राहदारी अपनी राह की तौहीन लगती है।

मुझ पर उसकी पहली मुलाक़ात का असर—मेरे शरीर के ताप के रूप में हुआ था। मन में कुछ घिर आया, और तेज़ बुखार चढ़ गया। उस दिन—उस शाम उसने पहली बार अपने हाथ से मेरा माथा छूआ था—'बहुत बुख़ार है ?' इन शब्दों के बाद उसके मुंह से केवल एक ही वाक्य निकला था—'आज एक दिन में मैं कई साल बड़ा हो गया हूं।'

इमरोज़ मुझसे साढ़े छह बरस छोटा है। पर उस दिन—उस पहला मुलाक़ात के दिन—वह जब अचानक कई बरस बड़ा हो गया तो इतना बड़ा हो गया कि अपने और मेरे अकेलेपन को नापकर वह अकसर कहने लगा—'नहीं, और कोई नहीं, और कोई भी नहीं, तुम मेरी बेटी हो, मैं तुम्हारा पुत्र हूं।'

और जहां तक उसी दोस्ती की राह में आने वाली निचाइयों का प्रश्न है—उनके कारण बहुत ही छोटे होते हैं, पर उनसे पैदा होने वाला उसका गुस्सा और मेरी उदासी—कोई तीन घंटे के लिए बहुत गहरे हो जाते हैं—इतने गहरे कि अकेलापन 'आख़िरी सच' लगने लगता है। ये कारण होते हैं—ड्राइंग-रूम की एक गद्दी उलटी क्यों पड़ी हुई है ? सिगरेट का खाली पैकिट दीवान पर क्यों गिरा हुआ है ? गोंद की शीशी जिस मेज़ पर से उठाई थी, उस पर न रख-कर उसे दूसरे कमरे की मेज पर क्यों रख दिया ? अगर कार बाहर निकाली थी तो गैरेज का शटर क्यों नहीं बन्द किया ?—और नौबत यह आ जाती है—हाथ का ग्रास हाथ में और सामने प्लेट में पड़ी हुई रोटी प्लेट में रह जाती है। घड़ी की सुई एक ही जगह पर अटक जाती है। एक खामोशी छा जाती है—जिसमें केवल एक खटका, बहुत ज़ोर से, एक बार सुनाई देता है—और उसके कमरे का दरवाज़ा एक ठहाके से बन्द हो जाता है।

लगभग तीन घंटे इस तरह बीत जाते हैं जैसे समय का ऊपर का सांस ऊपर, नीचे का सांस नीचे रह गया हो। फिर इमरोज़ के एक हसीनतर फ़िक़रे से यह खामोशी टूटती है—'मैं तुम्हारा शीशासन, तुम मेरा प्राणायाम !'

इसीलिए इन सब निचाइयों को छोटा सच कह सकती हूं और इमरोज़ के अस्तित्व को बड़ा सच।

हिन्दी कवि कैलाश वाजपेयी को ज्योतिष का गहरा ज्ञान है। एक दिन कैलाश ने कहा—'अमृता ! तुम्हारे जन्म के समय चन्द्रमा तुम्हारे भाग्य के घर में बैठा हुआ था।' मैं हंस रही थी—'पर वह तो ढाई घड़ी बैठकर चला गया होगा···' कि पास से ही हंसकर इमरोज़ ने कहा—'वह कोई इमरोज़ थोड़े ही था जो फिर और कहीं न जाता, वह सिर्फ़ चन्द्रमा था, आया, बैठा और फिर उठकर टहल दिया···चन्द्रमा को तो घर-घर जाना होता है न···'

याद आ रहा है—एक दिन बीमारी की हालत में मैंने इमरोज़ से कहा—'मैं इस दुनिया से चली गयी तो तुम अकेले मत रहना, दुनिया का हुस्न भी देखना और जवानी भी।' तो इमरोज़ ने बल खाकर कहा— मैं पारसी नहीं हूं जिसकी लाश को गिद्धों के हवाले कर दिया जाता है। तुम मेरे साथ और दस बरस जीने का इक़रार करो—मेरी एक हसरत अभी बाकी है, मैं एक अच्छी फ़िल्म बना लूं, बस वह बनाकर फिर एक साथ दुनिया से जाएंगे।'

ये शब्द जिस घड़ी कहे गए, उस घड़ी इससे बड़ा सच और कोई नहीं था। इसीलिए कहती हूं—ज़िन्दगी की सारी कठिनाइयां छोटा सच हैं, और इमरोज़ का साथ बड़ा सच।

यह बड़ा सच—हंसी-मज़ाक की रौ में भी कभी छोटा नहीं हुआ। एक बार मुझे और इमरोज़ को चाय पीने की इच्छा हुई। इमरोज़ ने कहा—'अच्छा, तुम गैस पर चाय का पानी रखो, आज मैं चाय बनाऊंगा।' मैं बिस्तर में बैठी हुई थी, उठने को जी नहीं कर रहा था, कहा 'मेरे तो अब थोड़े से दिन रहते हैं जीने के, पर जितने भी बाक़ी रहते हैं, अब मैं इस तरह जीना चाहती हूं, मानो ईश्वर के विवाह में आयी हुई होऊं।' इमरोज़ कोई मिनट भर के लिए चुप रहा, फिर कहने लगा—'पर मैं भी तो ईश्वर के ब्याह में आया हुआ हूं!' मुझे हंसी आ गयी—'हां-हां, पर तुम लड़की वाले की तरफ से हो, मैं लड़के वाले की तरफ से।' उस दिन से रोज़ एक मज़ाक-सा चल गया कि बातों-बातों में इमरोज़ कह देता—'अच्छा जी! यह काम भी हम ही करे देते हैं, हम लड़की वाले की तरफ़ से जो हुए—आप बैठे रहें, लड़के वालो!'

सच—इमरोज़ की दोस्ती में जैसे मैंने सचमुच ईश्वर का विवाह देखा हो··· विवाहों पर होने वाले बिरादरी वालों के झगड़े भी देखे हैं, और विवाह भी···

रसोइया कभी मेरे लिए ज़रूरी होता था, इतना कि अगर उसे बुखार चढ़ता हुआ मालूम हो तो घबराकर सोचती थी—हाय ईश्वर, मुझे बुखार चढ़ जाए पर रसोइये को न चढ़े, नहीं तो रोटी मुझे बनानी पड़ेगी···पर पिछले सोलह-सतरह बरसों से रसोइया मेरे लिए ज़रूरी नहीं रहा। (अपने हाथ से रोटी पकाने की आदत मुझे अन्दरेटे जाकर पड़ी थी। मैं और इमरोज़ कांगड़ा वैली प्रसिद्ध चित्रकार सोभासिंहजी से मिलने गए थे, पर हमारे खाने का सारा झंझट जब सोभासिंहजी की पत्नी पर पड़ गया तो अच्छा नहीं लगा। मैंने कोशिश की तो मुझसे लकड़ियों की आग नहीं जलायी गयी। पर जब इमरोज़ ने फूंकें मार-कर आग जलाने का जिम्मा ले लिया, तो मैंने रोटी बनाने का ज़िम्मा ले लिया। और फिर वापस आने पर नौकर एक दख़ल-अन्दाज़ी मालूम होने लगा।) सो, पिछले सोलह-सतरह बरसों से रोटी अपने हाथ से बनाती हूं। कमरों और बरतनों की सफ़ाई-मंजाई के लिए 'पार्ट टाइम' प्रबन्ध है। इससे ज़्यादा मुझे

किसी नौकर की आवश्यकता नहीं पड़ती। पर अगर यह 'पार्ट टाइम' वाला कभी बीमार हो या छुट्टी पर हो तो बरतन भी खुद साफ़ कर लेती हूं। ऐसे समय में मैं बरतन मांजती हूं और इमरोज़ पास खड़े होकर मुझे गर्म पानी दिए जाता है, मैं बरतन धोए जाती हूं। और जब कभी वह स्टूडियो में पेंट कर रहा होता है, मैं उसे उठने नहीं देती, खुद ही बरतनों का काम खत्म करके आवाज़ दे देती हूं—'लो, लड़की वालो! आज तो लड़के वालों ने बरतन भी मांज दिए हैं।'—और फिर जैसे यह मज़ाक हमारी ज़िन्दगी का एक हिस्सा बन गया है, उसी तरह एक उत्साह भी हमने अपने लिए सुरक्षित रखा हुआ है। इमरोज़ का व्यवसाय बहुत मंहगा है, रंग भी। कभी उसके पास नया कैनवस खरीदने के लिए पैसे न हों तो कहती हूं—'तुम्हारी पहली पेंटिंग मैंने खरीद ली, यह लो पैसे—तुम नया कैनवस खरीद लो और पेंट कर लो।' और जब कभी मुझे अपनी किताबों से पैसे न मिल रहे हों और मैं उदास होऊं तो वह कहता है—'चलो! आज मैंने तुम्हारी अमुक कहानी पर फ़िल्म बनाने का अधिकार खरीद लिया, यह लो साइनिंग एमाउन्ट, और इसका फ़िल्मी अधिकार मुझे बेच दो।'

जानती हूं, पैसे उसके पास हों या मेरे पास, रहते उतने के उतने ही हैं—पर हम मौका आने पर उस दिन का उत्साह अवश्य कमा लेते हैं, और इस तरह हर कठिन दिन को आसान बना लेते हैं। और यह सब कुछ इतना बड़ा सच बन जाता है कि पैसों की कमी छोटा सच हो जाती है।

मैं केवल मन में नहीं, ट्रंकों-अलमारियों में भी कई छोटी-छोटी चीज़ें संभाल-कर रख लेती हूं। किसी के जन्मदिन पर कोई सौग़ात देनी हो, मेरे ट्रंकों और अलमारियों में से कुछ न कुछ ज़रूर निकल आता है। अचानक कुछ खरीदना पड़ जाए, बैंक के किसी न किसी एकाउन्ट में से उसके लिए रक़म भी मिल जाती है। बे-समय भूख लग आए तो फ्रिज में से कुछ न कुछ खाने के लिए भी मिल जाता है। इमरोज़ इस बात पर बहुत हंसता है। एक बार हंसते हुए कहने लगा—'तुमने मेरा भी कुछ हिस्सा कहीं बचाकर ज़रूर रखा होगा ताकि अगले जन्म में काम आए…'

अगले जन्म का पता नहीं, पर लगता है, पिछले जन्म का ज़रूर कुछ बचा-कर रखा हुआ था जिसे इस जन्म में मैं दुर्गम रेगिस्तान में पानी के कटोरे के समान पी सकी हूं। और सोचती हूं—ईश्वर करे उसकी बात भी ठीक हो जाए, और मैं उसे, कुछ, कहीं से, अपने अगले जन्म के लिए भी बचाकर रख सकूं…

एक कविता की व्याख्या

५ सितम्बर, १९७३ की रात थी। साढ़े दस बजे थे। मैं काज़ानज़ाकिस की किताब 'रॉक गार्डन' पढ़ रही थी कि टेलीफ़ोन आया—एक यूनिवर्सिटी के वाइस चांसलर कह रहे थे—"सवेरे सीनेट की मीटिंग है, जिसमें तुम्हारी कहानी 'एक शहर की मौत' के खिलाफ़ रेजोल्यूशन पास होना है। मैं तुम्हारे पिताजी का दोस्त हुआ करता था, उनकी इज़्ज़त करता था, इसलिए तुम्हें फ़ोन कर रहा हूं कि तुम्हारी कहानी 'एक शहर की मौत' के साथ तुम्हारे लेखन की मौत हो गयी है।"

मैंने यह मौत की खबर सुनी। वाइस चांसलर साहब सचमुच इस मौत का अफ़सोस कर रहे थे, इसलिए उनकी सहानुभूति के लिए धन्यवाद करके पूछा—'आपने यह कहानी पढ़ी है?'

'नहीं। मैं लिटरेचर के बारे में ज़्यादा नहीं जानता, मैं तो साइन्स का आदमी हूं।'

'आपको लिटरेचर के बारे में मालूम नहीं, तब भी आपकी विद्वता पर भरोसा करके कहना चाहती हूं—आप खुद इस कहानी को एक बार ज़रूर पढ़ें…'

'मेरे पास इसके सिनॉप्सिस आए हैं, वे बहुत बुरे हैं।'

'सिनॉप्सिस, हो सकता है, ठीक न हों।'

'सिनॉप्सिस कैसे ग़लत हो सकते हैं?'

'कोई प्रेजुडिस्ड मांइड लिखे तो वे ग़लत हो सकते हैं।'

'हां, यह ठीक है, पर…'

'जब कहानी मौजूद है तो उसे पढ़ने का कष्ट किया जा सकता हैं।'

'हमारा कोई आदमी, शायद रजिस्ट्रार, अगर दिल्ली आए तो उसे समय दे देना, उससे कहानी डिसकस कर लेना…'

'अगर आप खुद पढ़ना चाहें तो मुझे फ़ोन कीजिएगा, मैं कहानी को आपसे डिसकस कर सकती हूं।'

'अच्छा, अगले हफ्ते फ़ोन करूंगा। आज मैंने बे-समय फ़ोन किया है। असल में मैं तुम्हारे पिताजी की इज़्ज़त करता था, वह बहुत ऊंचे विचारों के थे, तुम्हारी इज़्ज़त भी करना चाहता हूं।'

'पर वह मुझे पढ़े बिना नहीं हो सकती।'

'तुम ऐसा लिखो कि हम तुम्हारी इज़्ज़त करें।'

'फ़िक्र न कीजिए, जब तक मेरी नज़रों में मेरी इज़्ज़त है, मेरी इज़्ज़त को ठेस नहीं पहुंचती…'

मेरी तरह मेरी इज़्ज़त भी सारी उम्र किसी पर आश्रित नहीं रही। फ़ोन बन्द हो गया तो वह भी मेरी तरह हंस रही थी। चार क़दम पर खड़ा हुआ इमरोज़ फ़ोन की बातचीत सुन रहा था, ज़ोर से हंस पड़ा, कहने लगा—'रेज़ोल्यूशन कामों के निर्माण के लिए बने थे, इन लोगों ने रेज़ोल्यूशनों को किस काम में लगा दिया? ये ऐसे रेज़ोल्यूशन पास करेंगे तो रेज़ोल्यूशन शब्द की हतक करेंगे, तुम्हें क्या ?'

उन्हीं दिनों इस कहानी को सुरेश कोहली एक उस किताब के लिए अंग्रेज़ी में अनुवाद कर रहे थे जिसमें हिन्दुस्तान की कुछ चुनी हुई कहानियों का संग्रह छपना था। भारतीय ज्ञानपीठ की ओर से मेरे सिलेक्टिड वर्क्स छप रहे थे—उसमें भी यह कहानी चुनी गयी थी—और राजपाल एण्ड संस की ओर से मेरी कहानियों की 'पंजाब से बाहर के पात्र' जो किताब छप रही थी, उसकी मुख्य कहानी यही थी। पर यह सब कुछ न भी होता तो भी मुझे मालूम था कि यह कहानी मेरी अच्छी कहानियों में से है—और इसके लिख सकने की मेरी तसल्ली को किसी यूनिवर्सिटी का रेज़ोल्यूशन कम नहीं कर सकता।

उदासी यह नहीं थी—पर मन उदास था। 'उदासियों' का एक लम्बा सिलसिला था, जो जिस दिन हाथ में कलम लिया था, उसी दिन से मेरे साथ चलने लगा था—और फिर सदा मेरे साथ चलता रहा था।

फिर उन्हीं दिनों देवेन्द्र सत्यार्थी साहब का सदा की भांति मेरे संबंध में एक स्कैंडलस लेख छपा। सत्यार्थी साहब ज़िन्दगी में कभी भी मेरे बहुत परिचित नहीं रहे, पर वह जब भी कभी मेरे बारे में लिखते रहे, न जाने मन के किस संकट में फंसकर लिखते रहे। ख़ैर, पंजाबी में कई देवेन्द्र सत्यार्थी हैं, जिन्हें किसी की रूह की पाकीज़गी से कोई वास्ता नहीं है। सो, इस लेख का असर भी था, केवल इस लेख का नहीं था, पर यह उपरामता के सिलसिले को चलाए रखने वाली एक छोटी-सी कड़ी ज़रूर थी—सो, उपरामता और लम्बी हो गयी और 'उदासियों' के इस सिलसिले से तंग आकर मैंने एक कविता लिखी—'अलविदा'।

किसी कविता की व्याख्या करने की आवश्यकता नहीं होती, पर सोचती हूं, यह कविता एक व्याख्या की मांग करती है, क्योंकि यह कविता इतनी इनडायरेक्ट है कि बाहर से केवल एक व्यक्ति से जुड़ी हुई प्रतीत होती है, पर इसके भीतर का चेहरा एक व्यक्ति का नहीं, पूरे पंजाब का चेहरा है।

पंजाब का चेहरा मेरे लिए महबूब का चेहरा है पर उस महबूब का जो ग़ैरों की महफ़िल में बैठा हो।

लिखा—

ख़ुदा ! तेरी नज़्म जिन्नी तैनूं उमर देवे !
मैं ऐस नज़्म दा मिसरा नहीं,
जु होर मिसरेयां दे नाल चलदी रह्वां,
ते तैनूं इक्क क़ाफ़िये दी तर्हां मिलदी रह्वां।
मैं तेरी ज़िन्दगी चों निकली हां—
चुपचाप—इस तर्हां—
ज्यों लफ्जां दे विच्चों अर्थ निकलदे।
ते वदनसीब अर्थां दा की—
ओहनां दा होणा वी ओहनां दे निकलण जिहा।
ते जीकण अज्ज इक्क अर्थां निकलेया
कल नूं कोई नामुराद होर अर्थ निकलेगा
पर नज़्म इस जग ते सलामत रहवे
ते ख़ुदा तेरी नज़्म जिन्नी तैनूं उमर देवे।[1]

अपने अस्तित्व पर मुझे मान है—अगर पंजाब की धरती पंजाब की एक नज़्म है—तो मैं उस नज़्म के अर्थों के समान हूं। अर्थ निकाले जाते हैं—आज और अर्थ, कल को कुछ और अर्थ।

पंजाब में इस समय जैसी समझ और अदबी सियासत है, मैं सचमुच उसमें से, चुपचाप, उसके अर्थों की तरह, निकल जाना चाहती हूं। और कल, मुझे

---

१. ख़ुदा तेरी नज़्म जितनी तुझे उम्र दे !
मैं इस नज़्म का मिसरा नहीं
जो और मिसरों के साथ चलती रहूं
और तुमसे एक क़ाफ़िये की तरह मिलती रहूं।
मैं तुम्हारी ज़िन्दगी से निकली हूं
चुपचाप—इस तरह—
जैसे शब्दों से अर्थ निकलते हैं !
और वदनसीब अर्थों का क्या—
उनका होना भी उनके निकलने जैसा
और जिस तरह आज एक अर्थ निकला है
कल कोई नामुराद और अर्थ निकलेगा
पर नज़्म इस जग पर सलामत रहे
और ख़ुदा तेरी नज़्म-जितनी तुझे उम्र दे।

मालूम है, मेरी तरह, उसके अर्थों के समान और साहित्यिक भी उसमें से निकलेंगे, निकाले जाएंगे।

नज़्म जैसी धरती सलामत रहे, पंजाब सलामत रहे, मेरी तमन्ना सिर्फ़ चुपचाप उसमें से निकल जाने की है, इसीलिए यह 'अलविदा' नज़्म लिखी है।

ककनूसी नस्ल

इतिहास बताता है—फ़ीनिक्स (ककनूस) से अपने आपको पहचानने वाली नस्ल ने अपना नाम फ़िनीशियन रखा था। ककनूस बार-बार अपनी राख में से जन्म लेता है—मनुष्यों की जिस नस्ल ने हर विनाश में से गुज़र सकने की अपनी शक्ति को पहचाना, अपना नाम जल मरनेवाले और अपनी राख में से फिर पैदा हो उठने वाले ककनूस से जोड़ लिया।

यह फ़ीनिक्स सूरज की पूजा से संबंधित है, सूरज जो रोज़ डूबता है और रोज़ चढ़ता है। और ये फ़िनीशियन्ज़, जिनका उद्‌गम-स्थान आज तक इतिहास को ज्ञात नहीं—यद्यपि इनके संबंध समर और हिन्दुस्तान से पाए जाते हैं—सदा सूरज की पूजा करते थे। 'ओन' सूरज का एक नाम था, इसीलिए फ़िनीशियन्ज़ ने जब यूरोप में नई धरती की खोज की, उसका नाम ऐल-ओन-डोन (सूरज का शहर) रखा, जो आज लन्दन है।

इज़राईल के जब बारहों क़बीले बिखर गए थे, प्रतीत होता है कि उनमें से भी कुछ लोग फ़िनीशियन्ज़ से जा मिले थे, क्योंकि शब्द 'इंग्लैंड' की जड़ें हिब्रू भाषा में हैं। जोज़फ़ क़बीले का चिह्न बैल होता था। बैल के लिए हिब्रू भाषा में ऐंगल शब्द है। नई खोजी हुई धरती को उन लोगों ने ऐंगल-लैंड का नाम दिया, जो आज इंग्लैंड है।

मेरे खयालों का इतिहास से केवल इतना संबंध है कि उस नस्ल का फ़ीनिक्स से अपना संबंध जोड़ना मुझे बड़ा अपना-सा और पहचाना हुआ लगता है। फ़िनीशियन नस्ल को मैं अपनी भाषा में ककनूसी नस्ल कह सकती हूं। दुनिया के सब सच्चे लेखक मुझे ककनूसी नस्ल के प्रतीत होते हैं, रचनात्मक क्रिया की आग में जलते और फिर अपनी राख में से रचना के रूप में जन्म लेते हुए।

बहुत वर्ष हुए—'सूरज और जाड़ा' शीर्षक लेख में मैंने लिखा था—'सूरज के डूबने से मेरा कुछ रोज़ डूब जाता है, और इसके फिर आकाश पर चढ़ने के साथ ही मेरा कुछ रोज़ आकाश पर चढ़ जाता है। रात मेरे लिए सदा अंधेरे की एक चिनाब-सी रही है—जिसे रोज़ इसलिए तैरकर पार करना होता है कि

ख़ुदा ! तेरी नज़्म जिन्नी तैनूं उमर देवे !
मैं ऐस नज़्म दा मिसरा नहीं,
जु होर मिसरेयां दे नाल चलदी रह्वां,
ते तैनूं इक्क काफ़िये दी तर्हां मिलदी रह्वां।
मैं तेरी ज़िन्दगी चों निकली हां—
चुपचाप—इस तर्हां—
ज्यों लफ्जां दे विच्चों अर्थ निकलदे।
ते वदनसीव अर्थां दा की—
ओह्नां दा होणा वी ओह्नां दे निकलण जिहा।
ते जीकण अज्ज इक्क अर्थ निकलेया
कल नूं कोई नामुराद होर अर्थ निकलेगा
पर नज़्म इस जग ते सलामत रह्वे
ते ख़ुदा तेरी नज़्म जिन्नी तैनूं उमर देवे।[1]

अपने अस्तित्व पर मुझे मान है—अगर पंजाव की धरती पंजाव की एक नज़्म है—तो मैं उस नज़्म के अर्थों के समान हूं। अर्थ निकाले जाते हैं—आज और अर्थ, कल को कुछ और अर्थ।

पंजाव में इस समय जैसी समझ और अदवी सियासत है, मैं सचमुच उसमें से, चुपचाप, उसके अर्थों की तरह, निकल जाना चाहती हूं। और कल, मुझे

---

१. ख़ुदा तेरी नज़्म जितनी तुझे उम्र दे !
मैं इस नज़्म का मिसरा नहीं
जो और मिसरों के साथ चलती रहूं
और तुमसे एक क़ाफ़िये की तरह मिलती रहूं।
मैं तुम्हारी जिन्दगी से निकली हूं
चुपचाप—इस तरह—
जैसे शब्दों से अर्थ निकलते हैं !
और वदनसीव अर्थों का क्या—
उनका होना भी उनके निकलने जैसा
और जिस तरह आज एक अर्थ निकला है
कल कोई नामुराद और अर्थ निकलेगा
पर नज़्म इस जग पर सलामत रहे
और ख़ुदा तेरी नज़्म-जितनी तुझे उम्र दे।

मालूम है, मेरी तरह, उसके अर्थों के समान और साहित्यिक भी उसमें से निकलेंगे, निकाले जाएंगे।

नज़्म जैसी धरती सलामत रहे, पंजाब सलामत रहे, मेरी तमन्ना सिर्फ़ चुपचाप उसमें से निकल जाने की है, इसीलिए यह 'अलविदा' नज़्म लिखी है।

ककनूसी नस्ल

इतिहास बताता है—फ़ीनिक्स (ककनूस) से अपने आपको पहचानने वाली नस्ल ने अपना नाम फिनीशियन रखा था। ककनूस बार-बार अपनी राख में से जन्म लेता है—मनुष्यों की जिस नस्ल ने हर विनाश में से गुज़र सकने की अपनी शक्ति को पहचाना, अपना नाम जल मरनेवाले और अपनी राख में से फिर पैदा हो उठने वाले ककनूस से जोड़ लिया।

यह फ़ीनिक्स सूरज की पूजा से संबंधित है, सूरज जो रोज़ डूबता है और रोज़ चढ़ता है। और ये फ़िनीशियन्ज़, जिनका उद्‌गम-स्थान आज तक इतिहास को ज्ञात नहीं—यद्यपि इनके संबंध समर और हिन्दुस्तान से पाए जाते हैं—सदा सूरज की पूजा करते थे। 'ओन' सूरज का एक नाम था, इसीलिए फ़िनीशियन्ज़ ने जब यूरोप में नई धरती की खोज की, उसका नाम ऐल-ओन-डोन (सूरज का शहर) रखा, जो आज लन्दन है।

इज़राईल के जब बारहों क़बीले बिखर गए थे, प्रतीत होता है कि उनमें से भी कुछ लोग फ़िनीशियन्ज़ से जा मिले थे, क्योंकि शब्द 'इंग्लैंड' की जड़ें हिब्रू भाषा में हैं। जोज़फ़ क़बीले का चिह्न बैल होता था। बैल के लिए हिब्रू भाषा में ऐंगल शब्द है। नई खोजी हुई धरती को उन लोगों ने ऐंगल-लैंड का नाम दिया, जो आज इंग्लैंड है।

मेरे ख़यालों का इतिहास से केवल इतना संबंध है कि उस नस्ल का फ़ीनिक्स से अपना संबंध जोड़ना मुझे बड़ा अपना-सा और पहचाना हुआ लगता है। फ़िनीशियन नस्ल को मैं अपनी भाषा में ककनूसी नस्ल कह सकती हूं। दुनिया के सब सच्चे लेखक मुझे ककनूसी नस्ल के प्रतीत होते हैं, रचनात्मक क्रिया की आग में जलते और फिर अपनी राख में से रचना के रूप में जन्म लेते हुए।

बहुत वर्ष हुए—'सूरज और जाड़ा' शीर्षक लेख में मैंने लिखा था—'सूरज के डूबने से मेरा कुछ रोज़ डूब जाता है, और इसके फिर आकाश पर चढ़ने के साथ ही मेरा कुछ रोज आकाश पर चढ़ जाता है। रात मेरे लिए सदा अंधेरे की एक चिनाब-सी रही है—जिसे रोज़ इसलिए तैरकर पार करना होता है कि

ख़ुदा ! तेरी नज़्म जिन्नी तैनूं उमर देवे !
मैं ऐस नज़्म दा मिसरा नहीं,
जु होर मिसरेयां दे नाल चलदी रह्वां,
ते तैनूं इक्क क़ाफ़िये दी तर्हां मिलदी रह्वां।
मैं तेरी ज़िन्दगी चों निकली हां—
चुपचाप—इस तर्हां—
ज्यों लफ्जां दे विच्चों अर्थ निकलदे।
ते वदनसीव अर्थां दा की—
ओह्नां दा होणा वी ओह्नां दे निकलण जिहा।
ते जीकण अज्ज इक्क अर्थां निकलेया
कल नूं कोई नामुराद होर अर्थ निकलेगा
पर नज़्म इस जग ते सलामत रह्वे
ते ख़ुदा तेरी नज़्म जिन्नी तैनूं उमर देवे।[1]

अपने अस्तित्व पर मुझे मान है—अगर पंजाब की धरती पंजाब की एक नज़्म है—तो मैं उस नज़्म के अर्थों के समान हूं। अर्थ निकाले जाते हैं—आज और अर्थ, कल को कुछ और अर्थ।

पंजाब में इस समय जैसी समझ और अदबी सियासत है, मैं सचमुच उसमें से, चुपचाप, उसके अर्थों की तरह, निकल जाना चाहती हूं। और कल, मुझे

---

१. ख़ुदा तेरी नज्म जितनी तुझे उम्र दे !
मैं इस नज़्म का मिसरा नहीं
जो और मिसरों के साथ चलती रहूं
और तुमसे एक क़ाफ़िये की तरह मिलती रहूं।
मैं तुम्हारी ज़िन्दगी से निकली हूं
चुपचाप—इस तरह—
जैसे शब्दों से अर्थ निकलते हैं !
और वदनसीव अर्थों का क्या—
उनका होना भी उनके निकलने जैसा
और जिस तरह आज एक अर्थ निकला है
कल कोई नामुराद और अर्थ निकलेगा
पर नज़्म इस जग पर सलामत रहे
और ख़ुदा तेरी नज़्म-जितनी तुझे उम्र दे।

मालूम है, मेरी तरह, उसके अर्थों के समान और साहित्यिक भी उसमें से निकलेंगे, निकाले जाएंगे।

नज़्म जैसी धरती सलामत रहे, पंजाब सलामत रहे, मेरी तमन्ना सिर्फ़ चुपचाप उसमें से निकल जाने की है, इसीलिए यह 'अलविदा' नज़्म लिखी है।

ककनूसी नस्ल

इतिहास बताता है—फ़ीनिक्स (ककनूस) से अपने आपको पहचानने वाली नस्ल ने अपना नाम फिनीशियन रखा था। ककनूस बार-बार अपनी राख में से जन्म लेता है—मनुष्यों की जिस नस्ल ने हर विनाश में से गुज़र सकने की अपनी शक्ति को पहचाना, अपना नाम जल मरनेवाले और अपनी राख में से फिर पैदा हो उठने वाले ककनूस से जोड़ लिया।

यह फ़ीनिक्स सूरज की पूजा से संबंधित है, सूरज जो रोज़ डूबता है और रोज़ चढ़ता है। और ये फ़िनीशियन्ज़, जिनका उद्गम-स्थान आज तक इतिहास को ज्ञात नहीं—यद्यपि इनके संबंध समर और हिन्दुस्तान से पाए जाते हैं—सदा सूरज की पूजा करते थे। 'ओन' सूरज का एक नाम था, इसीलिए फ़िनीशियन्ज़ ने जब यूरोप में नई धरती की खोज की, उसका नाम ऐल-ओन-डोन (सूरज का शहर) रखा, जो आज लन्दन है।

इज़राईल के जब बारहों क़बीले बिखर गए थे, प्रतीत होता है कि उनमें से भी कुछ लोग फ़िनीशियन्ज़ से जा मिले थे, क्योंकि शब्द 'इंग्लैंड' की जड़ें हिब्रू भाषा में हैं। जोज़फ़ क़बीले का चिह्न बैल होता था। बैल के लिए हिब्रू भाषा में ऐंगल शब्द है। नई खोजी हुई धरती को उन लोगों ने ऐंगल-लैंड का नाम दिया, जो आज इंग्लैंड है।

मेरे खयालों का इतिहास से केवल इतना संबंध है कि उस नस्ल का फ़ीनिक्स से अपना संबंध जोड़ना मुझे बड़ा अपना-सा और पहचाना हुआ लगता है। फ़िनीशियन नस्ल को मैं अपनी भाषा में ककनूसी नस्ल कह सकती हूं। दुनिया के सब सच्चे लेखक मुझे ककनूसी नस्ल के प्रतीत होते हैं, रचनात्मक क्रिया की आग में जलते और फिर अपनी राख में से रचना के रूप में जन्म लेते हुए।

बहुत वर्ष हुए—'सूरज और जाड़ा' शीर्षक लेख में मैंने लिखा था—'सूरज के डूबने से मेरा कुछ रोज़ डूब जाता है, और इसके फिर आकाश पर चढ़ने के साथ ही मेरा कुछ रोज़ आकाश पर चढ़ जाता है। रात मेरे लिए सदा अंधेरे की एक चिनाब-सी रही है—जिसे रोज़ इसलिए तैरकर पार करना होता है कि

उसके दूसरे पार सूरज है' और लिखा था, 'यह सब-कुछ चेतन तौर पर नहीं हुआ। कब हुआ ? क्यों हुआ ? पता नहीं। मैंने सिर्फ़ इसे चेतन तौर पर समझने का प्रयत्न किया है। याद है—बहुत छोटी थी जब सूरज के डूबने के समय अचानक रोने लगती थी। मां कभी प्यार करती, कभी झिड़क देती, और कभी मुझे थपककर सुलाते हुए कहती—'बस आंखें मीचीं, सूरज आया।' उससे रोज़ मेरा प्रश्न होता था—'पर सूरज डूबा क्यों ?'

सूरज का ज़िक्र बार-बार मेरी कविताओं में आता रहा। केवल १९७३ में मैंने चेतन तौर पर पुरानी रचनाएं खोजीं, देखा कि यह ज़िक्र कैसे-कैसे आता रहा :

१९४७ में देश के विभाजन के समय ज़बर्दस्ती उठाकर ले जायी गयी औरतों की कोख से जन्मे 'मजबूर' बच्चे की ज़बानी एक कविता लिखी थी—मेरा ख़याल है सूरज का पहला और सशक्त वर्णन उसमें आया था—

धिक्कार हूं मैं वह, जो इन्सान पर पड़ रही
पैदाइश हूं उस वक़्त की, जब टूट रहे थे तारे
जब बुझ गया था सूरज...

उसी वर्ष देश की स्वतंत्रता के साथ बहुत-से सपने जोड़कर एक कविता लिखी थी, 'मैं हिन्द का इतिहास हूं' और आज़ादी के जश्न के लिए कहा था :

चन्द्रमा जो अम्बर से झुका है इसे प्रणाम करने को,
और सूरज जो नत हुआ है इसे सलाम करने को।

निजी मुहब्बत की भरपूर तीक्ष्णता मैंने १९५३ में देखी थी—उस समय की कविताओं में सूरज का वर्णन इस प्रकार हुआ है :

चन्द्रमा से भी श्वेत शरीर पृथ्वी का
सब किरणें सूरज में से किरमची रंग ढोकर लाईं

हमने सूरज को घोलकर धरती को रंग लिया
पूरब ने कुछ पाया है कौन से अम्बर को टटोलकर
जैसे हाथ में दूध का कटोरा, उसमें केसर घोल दिया है

सूरज ने आज मेंहदी घोली—

हथेलियों पर आज दोनों तकदीरें रंग गईं

इस सूरज को, केसर वाले दूध के कटोरे के रूप में, और उसकी लाली को मेहंदी के रूप में, मैंने केवल तब ही देखा था। फिर इसका वर्णन तमाम होता गया :

पश्चिम में लहर उठी, सूरज की नाव डोल गई
गठरी पोटली उठाए अब सांझ हमारी ओर आ रही है

बरसों तक सूरज जलाए, बरसों तक चांद जलाए,
आकाशों से जाकर चांदी-रंग के तारे मांग लायी
किसी ने आकर दीया न जलाया
घोर कालख प्राणों से लिपटी रही,
जैसे बरसों की बाती से रोशनी बिछुड़ी रही

पूरब से आंधी उठी, अंबर पर छा गयी
और चढ़ते सूरज को जैसे उसने बुन दिया
सूरज सरकंडे-सा, काले कोसों चलते हुए,
धूप न जाने कहां गयी
सूरज सरकंडे-सा पड़ा है, किरनें मूंज जैसी

पूरब ने चूल्हा जलाया, पवन फूंकें मार रही,
किरनें ऊंची हुईं, जैसे आग की लपटें !

सूरज ने हांडी चढ़ाई, धूप आटा गूंधने लगी
खेतों की हरियाली जैसे बिछावन बिछाया हो
आज तो आ जा, ओ परदेसी ! कल की कौन जाने···

सूरज की पीठ की
फागुन ने उठते हुए सब गठरी पोटली बांध ली
ये भी तीन सौ पैंसठ दिन यूं ही चले गए

हमारी आग हमें मुबारक, सूरज हमारे द्वारे आया
और उसने आज एक कोयला मांगकर अपनी आग सुलगाई

दिलों के नाजुक पोरों में
किरनों ने सूइयां चुभाईं जो आरपार हो गयीं—
यह यादों का दावानल !
लाख पल्ले को बचाया, पर किनारा छू गया

आज चांद-सूरज प्राणों का वाणिज्य करते हैं
और उजाले से भरे झावे दोनों उलटते हैं
फिर हमें क्यों तेरी दहलीज़ याद आ गयी
आज लाखों ख़याल सीढ़ियां चढ़ते-उतरते है

उम्र के द्वार मत भेड़ो, चलना अभी बहुत बाकी है
अभी सूरज का उबटन धरती अंगों पर मल रही है

नींद के होंठों से जैसे सपने की महक आती है
पहली किरन रात के माथे पर तिलक लगाती है
हसरत के धागे जोड़कर शालू-सा हम बुनते रहे
विरह की हिचकी में भी हम शहनाई को सुनते रहे

रात की भट्टी को किसने जलाया
सूरज की देग कैसे खौलती है
बात है दुनिया की, ऐ दुनिया वालो !
इश्क को फिर देग में बैठना है

सूरज का पेड़ खड़ा था, किरनों को किसी ने तोड़ लिया,
और चांद का गोटा अम्बर से उधेड़ दिया

सूरज का घोड़ा हिनहिनाया, रोशनी की काठी गिर गयी
उम्रों के फ़ासले तय करता हुआ धरती का पथिक रो उठा···

अम्बर के आले में सूरज जलाकर रख दूं
पर मन की ऊंची ममटी पर दीया कैसे रखूं

आंखों पर धुन्ध का ग़िलाफ़ लिये, किसकी पग-धूलि चूमने,
सूरज की परिक्रमा करती, ठहर गयी धरती

नजर के आसमान से है चल दिया सूरज कहीं
पर चांद में अभी भी उसकी खुशबू है आ रही

सूरज ने कुछ घबराकर आज
रोशनी की एक खिड़की खोली
बादल की एक खिड़की बन्द की
और अंधेरे की सीढ़ियां उतर गया

अम्बर एक आशिक, निढाल-सा बैठा, धुन्ध का हुक्का पी रहा
और सूरज के कोयले से रेखाएं खींचता, किसी की राह देख रहा

आज पूरब की खटिया खाली है, सुबह बैठने को नहीं आयी
बावरा अंबर उसे धरती की खाई में है खोज रहा

मुंह में निवाला नहीं, निवाले की बातें रह गयीं
आसमां पर रातें काली चीलों की तरह उड़ रहीं

सूरज एक नाव है जो पच्छिम की लहर से डूब गयी···सूरज रूई का एक गाला है जिसे गहरी आंधी ने धुन दिया···सूरज एक हरा जंगल है जो सूखकर सरकंडा बन गया है···सूरज दिल की आग से खाली है, इसने मेरे दिल की आग से कोयला मांगकर अपनी आग सुलगायी थी···सूरज सूइयों की एक पोटली है जो मेरे पोरों के आरपार हो गयी है···सूरज एक खौलती हुई देग है, जिसमें आज मेरे इश्क को बैठना है···सूरज एक पेड़ है जिस पर से किसी ने किरनें तोड़ ली हैं···सूरज एक घड़ा है जिसके ऊपर से उजाले की काठी उतर गयी है···सूरज एक दीया है जिसे अंबर के आले में रखकर जलाया जा सकता है···सूरज मेरे दिल की तरह है जो घबराकर अंधेरे की सीढ़ियां उतर जाता है···सूरज एक बुझा हुआ कोयला है जिससे अंबर लकीरें खींचकर किसी की राह देखता है···सूरज एक उम्मीद है जिसके बिना रातें काली चीलों की तरह आसमान में उड़ रही हैं···

सूरज के ये अनेक रूप देख रही हूं—और इनमें चेतना का रूप भी है :

दिन के आंगन में रात उतर आयी, इस दाग को कैसे सुलाऊं
दिल की छत पर सूरज चढ़ आया, इस दाग को कैसे छिपाऊं

रसीदी टिकट

अभी भोर हुई है
छाती को चीरकर छाती में सूरज की किरन पड़ी है

ज़िन्दगी जो सूरज से शुरू होती है, सब ग्रह पार कर अंत में फिर सूरज की ओर लौटती है। यह क्रिया भी अचेतन तौर पर लिखी गयी थी। आज उसे चेतन तौर पर देख रही हूं :

दिल के पानी में लहर उठी, लहर के पैरों से सफ़र बंधा हुआ,
आज किरनें हमें बुलाने आयीं, चलो अब सूरज के घर चलना है···

निजी मुहब्बत की कविताओं के अतिरिक्त, सूरज और कविताओं में भी बलात् आता रहा—जैसे मैंने हो ची मिन्ह से हुई अपनी मुलाक़ात पर कविता लिखी थी—

वियतनाम की धरती से पवन भी आज पूछ रही है
इतिहास के गालों पर से आंसू किसने पोंछा
धरती को आज गयी रात एक हरियाला सपना आया
अम्बर के खेतों में जाकर सूरज किसने बोया !

और जंग की भयानक आवाज़ों से मुक्त हुई धरती की आकांक्षा में जो कविताएं लिखीं :

धरती ने आज पुछवाया है
भविष्य की लोरी कौन लिखेगा
कहते हैं—एक आशा किरनों की कोख में आयी है

पूरब ने एक पालना बिछाया, जद्दी पुश्तैनी एक पालना,
सुना है, सूरज रात की कोख में है···

अरज करे धरती की दाई
रात कभी भी बांझ न हो, पीड़ा कभी भी बांझ न हो···

ये सारी कविताएं वे हैं—जो १९४७ और १९५९ के बीच के वर्षों में लिखी थीं। इसके बाद के तेरह वर्ष और हैं। देख रही हूं, इनमें भी सूरज का उल्लेख है :

मुझे वह समय याद है
जब एक टुकड़ा धूप का, सूरज की उंगली पकड़कर
अंधेरे का मेला देखता, भीड़ों में खो गया…

गलियों की कीचड़ पार कर अगर तू आज कहीं आए
मैं तेरे पैर धो दूं
तेरी सूरजी आकृति
मैं कंबल का किनारा उठाकर हड्डियों की ठिरन दूर कर लूं
एक कटोरी धूप की मैं एक घूंट में पी लूं
और एक टुकड़ा धूप का मैं अपनी कोख में रख लूं
मैं कोठरी दर कोठरी—रोज़ सूरज को जन्म देती
मैं रोज़ सूरज को जन्म देती और रोज़ सूरज यतीम होता…

इस नगर में भी सपने आते हैं
कितना विचारों के द्वार बन्द करो, फिर भी भीतर आ जाते हैं
कहीं संगमरमर की घाटी है, उसकी बात कह जाते हैं
और सारा नगर उनके कहने से, नींद में चल देता है
फिर रास्ते में उसे सूरज की एक ठोकर लग जाती है

डेढ़ घंटे की मुलाक़ात—
जैसे बादल का एक टुकड़ा आज सूरज के साथ टंका हो
उधेड़ थकी हूं, पर कुछ नहीं बनता, और लगता है—
कि सूरज के लाल कुरते में यह बादल किसी ने बुन दिया है

सूरज को सारे खून माफ़ हैं :
दुनिया के हर इंसान का—वह
रोज़ 'एक दिन' क़त्ल करता है…

अंधेरे के समुद्र में मैंने जाल डाला था
कुछ किरनें, कुछ मछलियां पकड़ने के लिए
कि जाल में पूरे का पूरा सूरज आ गया

इस समय की लेनिन और गुरु नानक जैसे व्यक्तियों के संबंध में लिखी कविताओं में भी सूरज का उल्लेख है :

तू मेरे इतिहास का कैसा पात्र है ?
मेरी दीवार के कैलेंडर से निकलकर
तू रोज़ उसकी तारीख बदलता है
और मुझे एक नए दिन की तरह मिलता है।
कैलेंडर से बाहर आकर
तू सड़कों पर निकलकर चलता है
तो एक धूप निकल आती है
कच्चे गर्भ के दिन हैं, मेरा जी नहीं ठहरता
दूध बिलौने बैठी, लगा मक्खन आ गया है
मैंने हांडी में हाथ डाला, तो सूरज का पेड़ा निकल आया

गुरु नानक की पत्नी सुलखनी की ओर से जो कविता लिखी, वह सारी की सारी सूरज से भरी हुई है—

मैं एक छाया थी—एक छाया हूं
मैंने सूरज की यात्रा के साथ यात्रा की है
सूरज की धूप पी है
और धूप की एक नदी में नहाई हूं
यह सूरज परीक्षा का समय था
और सूरज-परीक्षा का अन्त नहीं था
छाया की इस कोख को एक हुक्म था
कि अपने अंधेरे में से उसे किरनों को जन्म देना है
किरनों की जन्म-पीड़ा सहनी है
और छाया की छाती में से
किरनों को दूध पिलाना है
और जब सूरज चतुर्दिक घूमेगा
बहुत दूर जाएगा
तो छाया ने पीछे रहकर
उन बिलखती हुई किरनों को बहलाना है…

सूरज की मैंने जहां अनेक रूपों में कल्पना की है—वहां उसके साथ भोग तक की भी कल्पना की—

एक कटोरी धूप की मैं एक घूंट में ही पी लूं
और एक टुकड़ा धूप का मैं अपनी कोख में रख लूं…

और सूरज से धारण किए गर्भ में से सूरज के पैदा होने तक यह ज़िक्र पहुंचा …कोठरी दर कोठरी मैं रोज़ सूरज को जन्म देती…

पूजा के रूप में मैंने कभी सूरज की पूजा नहीं की, पर यह उसके लिए कैसी तड़प है कि उसके अस्तित्व को अपनी कोख के अंधेरे तक भी ले गयी हूं…

और इसी विचार को सुलखनी के विचार में भी डाल दिया…

ऐसा लगता है कि मुझ जैसे कुछ लोग, चाहे किसी भी देश में हों या किसी भी शताब्दी में, ककनूसी नस्ल के ही होते हैं।

कहते हैं—ककनूस पक्षी चील की लम्बाई-चौड़ाई का होता है। इसके पंख चमकीले, किरमिची और सुनहरे होते हैं। इसके स्वर में संगीत होता है, और यह सदा एक ही, अकेला होता है। इसकी आयु कम से कम पांच सौ वर्ष होती है। कुछ इतिहासकार इसकी आयु एक हज़ार चार सौ इकसठ वर्ष मानते हैं। इसकी आयु का अनुमान सत्तानवे हज़ार दो सौ वर्ष भी है। इसकी आयु की अवधी जब शेष होने लगती है, यह सुगंधित वृक्षों की टहनियां इकट्ठी करके एक घोंसला बनाता है, और उसमें बैठकर गाता है जिसमें आग पैदा होती है और यह घोंसले सहित उसमें जल जाता है। इसकी राख में से एक नया ककनूस जन्म लेता है जो सारी सुगंधित राख को समेटकर सूरज के मन्दिर की ओर जाता है, और वह राख सूरज के सामने चढ़ा देता है।

कुछ इतिहासकार इसकी मृत्यु का वर्णन इस प्रकार करते हैं—कि जब इसे जीवन के अंतिम समय के आने का आभास हो जाता है, यह स्वयं उड़कर सूरज के मंदिर में पहुंच जाता है, और पूजा की आग में बैठ जाता है। यह जब आग में बिलकुल राख हो जाता है तो इसकी राख में से नया ककनूस जन्म लेता है।

मिश्र के पुरातन इतिहास के पक्षी का घर उधर बताया जाता है जिधर सूरज उदय होता है। इसलिए इतिहासकार इस पक्षी का मूल स्थान अरब या हिन्दुस्तान मानते हैं—हिन्दुस्तान अधिक क्योंकि सुगंधित वृक्षों की टहनियां हिन्दुस्तान की भूमि के साथ जुड़ती हैं।

लैटिन के एक कवि ने ककनूस को रोमन-राज्य से संबंधित किया है। कुछ पादरियों ने इसे क्राइस्ट की मृत्यु और उसके पुनर्जीवित होने की वार्ता से संबंधित किया है, और कुछ लोग इसे क्वांरी मां की कोख से जन्मे क्राइस्ट के जन्म से जोड़ते हैं। पर मैं इसे हर सच्चे लेखक के अस्तित्व से जोड़ना चाहती हूं—चाहे वह किसी देश का हो, चाहे वह किसी शताब्दी का हो।

एक डायरी की कतरनें

डायरी लिखने की मुझे आदत नहीं है। अनेक बार कोशिश की, पर दो-चार दिन से अधिक उसका नियम मुझसे सहा न गया। शायद इसकी एक उदास पृष्ठ-भूमि थी—जो चेतन तौर पर नहीं, पर अचेतन तौर पर सदा मेरे सामने आकर खड़ी हो जाती थी···पता नहीं।

पृष्ठभूमि याद है—तब छोटी थी, जब डायरी लिखती थी तो सदा ताले में रखती थी। पर अलमारी के अन्दर के खाने की उस चाबी को शायद ऐसे संभाल-संभालकर रखती थी कि उसकी संभाल किसी की निगाह में आ गयी। (यह विवाह के बाद की बात है)। एक दिन मेरी चोरी से उस अलमारी का वह खाना खोला गया और डायरी को पढ़ा गया। और फिर मुझ से कई पंक्तियों की विस्तारपूर्ण व्याख्या मांगी गयी। उस दिन को भुगतकर मैंने वह डायरी फाड़ दी, और बाद में कभी डायरी न लिखने का अपने आप से इकरार कर लिया।

फिर और बड़ी हुई तो अपना ही इकरार अपने आपको बचकाना-सा लगने लगा। उस इकरार को तोड़कर, फिर डायरी लिखने के लिए मन पक्का किया। कुछ समय तक लिखती रही। और फिर अचानक वह डायरी मेरे कमरे से चोरी हो गयी। यह स्पष्ट था कि एक साधारण चोर की आवश्यकताओं में यह आवश्यकता नहीं हो सकती थी, यह किसी विशिष्ट व्यक्ति की ही आवश्यकता हो सकती थी। कई बरस तक मुझे उसका पश्चाताप रहा। आज भी उसकी कसक-सी बनी हुई है। जिस 'शांति बीबी' पर मुझे उस डायरी की चोरी का संदेह है, अब चाहूं भी तो उसका कुछ नहीं हो सकता।

ये दो घटनाएं थीं—जिनके कारण शायद मैं फिर नियमित रूप से कभी डायरी नहीं लिख सकी। हां, कभी-कभी एक जज़्बा-सा उठता है, बरस-छमाही कुछ पंक्तियां लिख लेती हूं, आज उन बिखरी हुई पंक्तियों को बिखरी हुई तारीखों के नीचे ढूंढने चली हूं, तो वे भी बहुत नहीं मिलीं। जो कुछ मिली हैं वे इस प्रकार हैं:

'बहुत समकालीन हैं, केवल एक मैं
मेरा समकालीन नहीं···'

यह कविता की प्रथम पंक्ति थी, पर अभी आगे कुछ नहीं लिखा था। वैसे यह जानती थी कि यह सारी उपरामता स्वयं से स्वयं तक की बात थी। इसी से

मेल खाती हुई कुछ पंक्तियां थीं, अभी काग़ज़ पर नहीं उतारी थीं पर छाती में हिल रही थीं :

'मैं बिना मेरा जनम
पुण्य की थाली में अपराध का एक शगुन है…'

कि आंखें अखबार के पहले पन्ने पर कांपने लगीं—'सोवियत ट्रूप्स ऑकुपाई चेकोस्लोवाकिया…सरप्राइज़ इनवेजन टु स्मैश लिबरेशन ड्राइव…फ़ेट ऑफ़ डुबचेक अनसर्टन…'और अभी जो 'स्वयं' केवल अपना था, न जाने किस-किस का 'स्वयं' बन गया है…फ़ासिज़्म की भयानकता भुगती नहीं है, केवल सुनी है, या उसको जिन देशों ने भुगता है उनमें घूमते हुए उसके कुछ चिह्न देखे हैं। तब भी उसकी कल्पना भयानक है। इसीलिए समाजवाद से सपने जुड़ते हैं। उसने जिन देशों में जो कुछ हासिल कर लिया है उससे इनकार नहीं, पर उसके आगे जो कुछ हासिल करने के इधर ही वह खड़ा हो गया है, पीड़ा केवल उससे लेकर है…

उसका पिघला हुआ चेहरा कभी अचानक बड़ा शासक जैसा कसा हुआ दिखाई देता है, और मांस के होंठों पर जो शब्द आते हैं वे खुदकुशी करते प्रतीत होते हैं। और लगता है अगर वे खुदकुशी से बचते हैं, काग़ज़ पर उतरते हैं, तो क़त्ल होते हैं।

कविता मेरे इर्द-गिर्द एक चक्कर-सा लगाती हुई न जाने कहां चली गयी है—कहां की कहां। काग़ज़ पर सिर्फ़ अपने पैरों के निशान छोड़ गयी है—

बन्दूक की गोली
अगर एक बार मुझे हनोई में लगती है
तो दूसरी बार प्राग में लगती है
और एक धुआं हवा में तैरता है
और मेरा 'मैं' अठमासे बच्चे की तरह मरता है…

—२२ अगस्त, १९६८

"Mr. Cernik said, 'Go away and urge the best brains of the country to get out whilst they can…" वह समाचार आज मेरे जन्मदिन पर दुनिया की ओर से किस प्रकार की सौग़ात है?

आर्थर कोसलर ने अपनी जन्मपत्री बनाने के लिए अपने जन्म के दिन छपे हुए समाचारपत्र ढूंढे थे और देखने लगा कि जिस दिन उसका जन्म हुआ उस दिन दुनिया में कौन-कौन-सी घटनाएं हुई थीं—कौन-सा जहाज डूबा था, किस

बैंक पर डाका पड़ा था, किन मुल्कों के बीच संधि हुई या टूटी थी···'हर जन्मप
आदम के जन्म की एक झूठी गवाही देती है' के बाद अगर कोई जन्मपत्री-व
कल्पना की जा सकती है तो आर्थर कोसलर वाली, सो, मेरे जन्मदिन पर य
समाचार कैसा समाचार है ?

अभी एक विचित्र चीस भरी कविता लिखी है—'दीवार पर लगा एक
फ़ैमिली फोटोग्राफ़···'

—३१ अगस्त, १९६८

क़ाफ़ी रात गुज़र गयी थी, गुलज़ार का फ़ोन आया—'इतनी रात गए फ़ोन
करते हुए डर रहा हूं।'

मैंने हंसकर कहा—'शरीफ़ आदमी ! डरने की कौन-सी बात है, मैं
स्टालिनिस्ट नहीं हूं।'

तो वह भी हंस दिया, बोला—'अच्छा, फिर एक स्टालिनिस्ट से बात करो,
मेरे पास बैठा है, इसने ही फ़ोन करवाया है।'

और फिर सन्तसिंह सेखों की आवाज़ आयी, 'क्या हाल है, महाराज ?'
सेखों में एक जाट की ज़िन्दादिली भी है, इसलिए मैंने हंसकर कहा, 'हाल
पूछोगे या हाल भी डिक्टेट कराओगे, जैसे चैक लोगों को दोस्ती डिक्टेट करवा
रहे हो···'

सेखों हंसने लगा—ऐसे हमलों से नहीं घबराना चाहिए, 'जे गुर सांग
पलटदा सिख सिदक न हारे।'[1]

कहा—'धन्य है आपकी सिखी, सेखों साहब ! गुरु भी बदल लिया, तब
भी आस्था नहीं टूटी। पर गुरुबानी की ओट से बाहर आकर बात करो।'

यह कल रात की बात थी, ३१ अगस्त की रात की, और आज एक
हंगेरियन लेखक डॉक्टर इश्तवान के घर पर आने के कारण जब मैंने कुछ पंजाबी
लेखकों को भी बुला लिया तो उनमें सेखों ने मेरे पास बैठकर हाल की इस
राजनीतिक घटना पर एक कविता लिखी—जिसमें समाजवाद एक क्वांरी
रूपवान युवती जनता का रेप करता है। रूपसी की आंखों में आंसू आते हैं, पर
बाद में मुसकराती है···

यह कविता पढ़ी तो दिल बहुत उदास हुआ—हमारे 'चिन्तक' समाजवाद
के कैसे रूप की कल्पना कर रहे हैं जो जनता का दिल जीतने की बजाय उसे रेप
करके, बली दर्शाया जा रहा है···यह समाजवाद जनता का कैसा महबूब है !
चारी जनता···

—१ सितम्बर, १९६८

1. अगर गुरु रूप बदल ले तो भी शिष्य की आस्था नहीं जाती।

बैंक पर डाका पड़ा था, किन मुल्कों के बीच संधि हुई या टूटी थी···'हर जन्मपत्री आदम के जन्म की एक झूठी गवाही देती है' के बाद अगर कोई जन्मपत्री की कल्पना की जा सकती है तो आर्थर कोसलर वाली, सो, मेरे जन्मदिन पर यह समाचार कैसा समाचार है ?

अभी एक विचित्र चीस भरी कविता लिखी है—'दीवार पर लगा एक फ़ैमिली फोटोग्राफ़···'

—३१ अगस्त, १९६८

क़ाफ़ी रात गुज़र गयी थी, गुलज़ार का फ़ोन आया—'इतनी रात गए फ़ोन करते हुए डर रहा हूं।'

मैंने हंसकर कहा—'शरीफ़ आदमी ! डरने की कौन-सी वात है, मैं स्टालिनिस्ट नहीं हूं।'

तो वह भी हंस दिया, वोला—'अच्छा, फिर एक स्टालिनिस्ट से वात करो, मेरे पास बैठा है, इसने ही फ़ोन करवाया है।'

और फिर सन्तसिंह सेखों की आवाज़ आयी, 'क्या हाल है, महाराज ?'

सेखों में एक जाट की ज़िन्दादिली भी है, इसलिए मैंने हंसकर कहा, 'हाल पूछोगे या हाल भी डिक्टेट कराओगे, जैसे चैक लोगों को दोस्ती डिक्टेट करवा रहे हो···'

सेखों हंसने लगा—ऐसे हमलों से नहीं घवराना चाहिए, 'जे गुर सांग पलटदा सिख सिदक न हारे।'[1]

कहा—'धन्य है आपकी सिखी, सेखों साहव ! गुरु भी बदल लिया, तव भी आस्था नहीं टूटी। पर गुरुवानी की ओट से वाहर आकर वात करो।'

यह कल रात की वात थी, ३१ अगस्त की रात की, और आज एक हंगेरियन लेखक डॉक्टर इश्तवान के घर पर आने के कारण जव मैंने कुछ पंजावी लेखकों को भी वुला लिया तो उनमें सेखों ने मेरे पास वैठकर हाल की इस राजनीतिक घटना पर एक कविता लिखी—जिसमें समाजवाद एक क्वांरी रूपवान युवती जनता का रेप करता है। रूपसी की आंखों में आंसू आते हैं, पर वाद में मुसकराती है···

यह कविता पढ़ी तो दिल वहुत उदास हुआ—हमारे 'चिन्तक' समाजवाद के कैसे रूप की कल्पना कर रहे हैं जो जनता का दिल जीतने की वजाय उसे रेप करके, वली दर्शाया जा रहा है···यह समाजवाद जनता का कैसा महवूव है ! वेचारी जनता···

—१ सितम्वर, १९६८

---

१. अगर गुरु रूप वदल ले तो भी शिष्य की आस्था नहीं जाती।

आज चैंक लोगों ने अपने मकानों, गलियों, बाज़ारों और सड़कों के नम्बर मिटा दिए हैं···कविता लिखी है—मेरा पता।

आज मैंने अपने घर का नम्बर मिटाया है
और गली के सिरे पर लगा गली का नाम हटाया है
और हर सड़क की दिशा का नाम पोंछ दिया है
पर अगर तुम्हें मुझसे ज़रूर मिलना है
तो हर देश के हर शहर की हर गली का हर दरवाज़ा खटखटाओ···
यह एक शाप है, एक वरदान है···
और जहां भी स्वतन्त्र रूह की झलक पड़े
—समझना वह मेरा घर है···

६ सितम्बर, १९६८

पी० सी० जोशी का आर्टिकल बहुत ही सयाना और सुलझा हुआ है। पढ़कर उनसे बातें करने को जी किया। पूछ-पाछकर उनका टेलीफ़ोन नम्बर मालूम किया। उनकी आवाज़ भी उनके लेख जैसी है—फ्रैंक और बोल्ड। उन्होंने बताया कि उनके दोस्त इस लेख के कारण उनसे नाराज़ हो गए हैं, ख़ासकर अरुणा आसिफ़ अली। और उन्होंने कहा—'यह तुम्हारा और मेरा दुःखान्त है कि सिर्फ़ पोलिटिकल लीडरों ने ही नहीं, हमारे लेखकों ने भी अपने दिमाग़ गिरवीं रख दिए हैं···'

कल ही गुरबख़्शसिंह का लेख पढ़ा था—न जाने हमारे पंजाबी लेखकों को क्या हो गया है···

अर्थों की नग्नता ढकने को
मैंने उनके गले में शब्दों की बांह डाली थी
ये शब्द शायद किसी मर्यादा पर नहीं रुकते ?
आज़ वही शब्द अर्थों का रेप करके लौटे हैं
और लज्जित मेरे सामने आंख नहीं उठाते।

—७ सितम्बर, १९६८

रोज़ जब दिन चढ़ता है—शहर के सारे मोहल्ले एक-दूसरे पर भौंकने लगते हैं···

इनमें से कई पालतू कुत्तों के समान हैं, जिनकी साबुन से धोयी हुई खाल रोज़ चमकती रहती है, और जिन्हें दूध में भीगी हुई रोटी और मांस के बड़े-बड़े टुकड़े रोज़ खाने को मिलते हैं···

बहुत से मिट्टी-धूल में लिबड़े हुए होते हैं, और कभी-कभी वह हड्डी पा जाते हैं जिसे वे सारे दिन चचोड़ते रहते हैं…

कई खुजली से खाए हुए शरीर वाले हैं जो सारे दिन अपनी एक टांग से अपने शरीर को खुजाते रहते हैं।

सब-के-सब ज़ोर-ज़ोर से भौंकते हैं। केवल झुग्गियां और झोंपड़ियां नन्हे-नन्हे पिल्लों की भांति, काटने को नहीं दौड़ते, केवल टांय-टांय करते रहते हैं…

और रोज़ जब रात होती है—सब मोहल्ले अपनी-अपनी जीभ से अपने-अपने घाव चाटते हैं…

हां, सच—ये सब एक-दूसरे को काट खाने को पड़ते हैं, कभी-कभी पूंछ भी हिलाते हैं, खासकर चुनावों के दिनों में जब इनके आगे कोई बासी बची हुई रोटियों के टुकड़े फेंक देता है, या खयाली पुलाव के कुछ निवाले…

जन्मी गुजरांवाला में थी, पर उम्र दो शहरों में गुज़ारी है—आधी लाहौर में, आधी दिल्ली में—आधी ग़ुलाम हिन्दुस्तान में, आधी आज़ाद हिन्दुस्तान में।

पर जिस पक्ष से किसी शहर की पोर्ट्रेट का सवाल होता है, यह ऊपरी पोर्ट्रेट जैसी लाहौर की देखी थी, वैसी ही दिल्ली की देखी।

—२१ अगस्त, १९७०

बहुत सिगरेट पीती हूं—और कभी किसी दिन मुझे ह्विस्की भी अच्छी लगती है। इसे रोज़ आदत के तौर पर नहीं पी सकती, पर किसी दिन अचानक इसकी तलब होती है। जानती हूं—ये दोनों चीज़ें जब किसी औरत के साथ जुड़कर एक ज़िक्र बनती हैं तो यह ज़िक्र उस औरत की शख्सियत को 'गंभीरता' शब्द से नहीं जोड़ता।

इसके लिए एक अजीब तुलना मेरे सामने आयी है। आखिर सिख घराने में जन्मी हूं, तुलना के लिए उसी मज़हब के किसी चिह्न का सामने आ जाना स्वाभाविक भी है। लगता है—जैसे मीठा हलवा बनाकर जब गुरु ग्रन्थ के सामने रखा जाता है और हलवे की परात में तलवार फेर दी जाती है तो वह साधारण हलवे के स्थान पर उसी क्षण 'कड़ाह प्रसाद' बन जाता है, उसी प्रकार मेरे हाथ में लिया हुआ सिगरेट या ह्विस्की का गिलास, जब मेरे माथे के 'सोच' को छू लेता है वह कुछ और हो जाता है, पावनता सरीखा, अनुभूति की तीव्रता और विशालता उसमें से तलवार की तरह गुज़र जाती है तो वह साधारण हलवे की तरह उसी क्षण प्रसाद बन जाता है।

—३१ अगस्त, १९७२

आज का समाचारपत्र कह रहा है—रामधारीसिंह दिनकर नहीं रहे।

एक ही सप्ताह तो हुआ है—आज २५ तारीख है और उस दिन १६ तारीख थी—स्टार बुक्स के समारोह के अवसर पर दिनकर मिले थे। मैं हॉल से वाहर आ रही थी, और वह बाहर आकर अपनी कार में बैठ चुके थे। दूर से देखकर हाथ के इशारे से उन्होंने पास बुलाया। देविन्दर भी मेरे साथ था। मैं उनकी कार के शीशे के पास पहुंची, तो शीशे को नीचे उतारकर, अपनी बांह बाहर निकालकर मेरा हाथ पकड़कर कहने लगे—'देखो ! मर न जाना ! तुम मर गयीं तो इस देश की हरियाली मर जाएगी।' जानती थी वह बीमार रहते हैं, मन भर आया। कहा—'पर आप जीवित रहें यह बात कहने के लिए। आपके सिवाय यह बात और कोई नहीं कह सकता···'

मेरा मन तो हिल ही गया था, पास खड़े हुए देविन्दर का मन भी हिल गया। कहने लगा—'दीदी ! हमारी भाषा में ऐसे लोग क्यों पैदा नहीं होते ?'

आज दिनकर चले गए हैं—केवल हिन्दी भाषा के पास से ही नहीं, हिन्दुस्तान से भी खो गए हैं···आंखें भर-भर आ रही हैं···

—२५ अप्रैल, १६७४

आज 'सारिका' के कमलेश्वर का पत्र आया है कि कई वर्ष पहले 'सारिका' में छपे 'मेरा हमदम मेरा दोस्त' लेखों का वह पुस्तक रूप में एक संग्रह करना चाहता है और उसने मेरे लेख को संग्रह में सम्मिलित करने की अनुमति मांगी है। यह लेख मैंने कई वर्ष हुए नवतेजसिंह के संबंध में लिखा था पर तब का सच आज का सच नहीं है, वह समय के साथ एक भुलावा सिद्ध हुआ है। मैंने कमलेश्वर को अभी पत्र लिख दिया है कि वह मेरा लेख इस संग्रह में सम्मिलित न करे, क्योंकि अब न कोई मेरा हमदम है, न दोस्त। इस पुस्तक में यह लेख सम्मिलित हो जाता तो एक सौ रुपया मिलता, पर यह झूठ की कमाई होती। नहीं, सौ रुपया नहीं चाहिए, झूठ की कमाई नहीं चाहिए।

मई, १६७४

कई बिलकुल बेगानी बातें न जाने कैसे बिलकुल अपनी हो जाती हैं और अपने रक्त-मांस में भीग जाती हैं। एक बार रात को महाभारत पढ़ते-पढ़ते सो गयी—सपने में देखा, एक कबूतर उड़ता हुआ आया और उसने मेरी गोद में शरण ली। देखा—उसके पीछे उड़ता हुआ एक बाज़ भी था, और वह मुझसे

…कबूतर को मांग रहा था। कबूतर अपनी जान की रक्षा की म…
कसकर मेरे साथ चिपट गया था, कि वाज़ ने कहा—'अगर' कबूतर…
तो इसके वदले में अपने शरीर का मांस तोलकर दे दें।' मैंने अपने…
मांस काटकर उसके वरावर वज़न का तोलना चाहा, पर कबूतर औ…
इतना भारी कि मैं सारी सारी उसके वदले में मरने को तैयार हो गय…
हंसी कानों में गूंज गयी और इसके साथ ही सारे शरीर में महसूस हुआ…
कबूतर मेरी लेखनी का प्रतीक है, और एक विरोध इसे जान से मार देने…
इसके पीछे पड़ा हुआ है।

मैंने कबूतर को और भी ज़ोर से अपने शरीर से चिपटा लिया…कि इ…
में मेरी आंखें खुल गयीं…सामने महाभारत का वह पन्ना खुला हुआ था जिस…
वारहवें अध्याय में अग्नि-देवता कबूतर का वेश वदलकर राजा उशीनर से शर…
मांगने आता है, और उशीनर उसकी जगह अपने शरीर का मांस देने के लिए…
तैयार हो जाता है। पर उसके पीछे पड़े हुए वाज़ को वह कबूतर नहीं देता…

इस घटना से मैंने अपने मन की शिद्दत को केवल पहचाना ही नहीं—एक…
रात जैसे आंखों से देख लिया।

एक दिन

वह भी एक दिन था—जब मैंने अपने संवंध में विस्तार से लिखने की जगह सोचा था—कभी जब मैं अपनी आत्मकथा लिखूंगी, केवल दस पंक्तियां लिखूंगी और वे पंक्तियां मैंने काग़ज़ पर लिखकर रख ली थीं। वे पंक्तियां आज भी मेरे सामने हैं, और आज भी वे उतनी ही सच हैं जितनी उस दिन लिखते समय …थीं। वे पंक्तियां हैं:

मेरी सारी रचना—क्या कविता और क्या कहानी और उपन्यास—मैं …ती हूं, एक ग़ैर-क़ानूनी वच्चे की तरह है।

मेरी दुनिया की हक़ीक़त ने मेरे मन के सपने से इश्क किया और उनके …मेल से यह सव रचना पैदा हुई।

…नती हूं—एक ग़ैर-कानूनी वच्चे की क़िस्मत इसकी क़िस्मत है, और इसे …अपने साहित्यिक समाज के माथे के वल भुगतने हैं।

…का सपना क्या था, कौन था, इसकी व्याख्या में जाने की आवश्यकता …ह कमवख़्त वहुत हसीन होगा, निजी ज़िन्दगी से लेकर कुल आलम की …की वातें करता होगा, तब भी हकीकत अपनी औक़ात को भूलकर

…दी टिकट

उससे इश्क कर बैठी। और जो रचना पदा हुई—हमेशा कुछ काग़ज़ों में लावारिस भटकती रही…'

और आज भी मेरा यक़ीन है—ये दस पंक्तियां मेरी पूरी और लम्बी आत्म-कथा हैं…

एक कविता

'चक नं० छत्तीस' उपन्यास मैंने १९६३ में लिखा था, १९६४ में छपा तो अफ़वाह फैल गयी कि पंजाब सरकार इसे 'बैन' कर रही है, पर हुआ कुछ नहीं। यह १९६५ में हिन्दी में भी छपा, और १९६६ में उर्दू में भी।

इस उपन्यास को फ़िल्म के लिए सोचा तो रेवतीसरन शर्मा ने कहा—'नहीं, यह उपन्यास समय से एक शताब्दी पहले लिखा गया है, हिन्दुस्तान अभी इसे समझ नहीं सकता'—और बासु भट्टाचार्य के शब्द थे—'इस उपन्यास पर जब फ़िल्म बनेगी, वह हिन्दुस्तान में पहली ऐडल्ट फ़िल्म होगी।' और इस उपन्यास का, जब मेरी दोस्त कृष्णा ने १९७४ में अंग्रेज़ी में अनुवाद किया तो उसकी रीडिंग के लिए मैंने जब इसे दोबारा पढ़ा तो इसकी पात्र 'अलका' मुझ पर इस तरह छा गयी जिस तरह शायद उपन्यास लिखते समय भी नहीं छायी थी…

इसका पात्र 'कुमार' जब 'अलका' को बताता है कि वह शरीर की भूख मिटाने के लिए कुछ दिन एक ऐसी औरत के पास जाता रहा था जो रोज़ के बीस रुपये लेती थी…और जब 'अलका' कहती है—'सोच रही हूं कि वह औरत भी मैं होती जिसके पास आप रोज़ बीस रुपए देकर जाते थे…' तो बहुत पुराना इस उपन्यास का स्रोत याद आया—एक बार इमरोज़ ने कहा था कि जिस्म की भूख के हाथों पीड़ित होकर मैंने एक बार बाज़ार की किसी औरत के पास जाना चाहा था, तो सहज मन मेरे मुंह से निकला था—'अगर तुम ऐसी औरत के पास जाते, तो मेरा जी करता है, वह औरत भी मैं ही होती…'

पहचान आयी—ये शब्द जो 'अलका' ने कहे, यह केवल अमृता ही कह सकती थी, और कोई औरत नहीं…अस्वाभाविक हालत की स्वाभाविकता शायद और किसी औरत के लिए संभव नहीं हो सकती, 'अलका' उर्फ़ अमृता…

भले ही कहानी के हर पात्र के साथ लेखक का गहरा साझा होता है, पर एक दूरी हर साझे का हिस्सा होती है। 'अलका' को पढ़ते हुए लगा—वह दूरी कहीं नहीं है…उस रात (७ सितम्बर, १९६४ की रात) मैंने अलका को संबोधित करके एक कविता लिखी—'पहचान' :

कई हज़ार चाबियां मेरे पास थीं
और एक-एक चाबी एक-एक दरवाज़े को खोल देती थी
दरवाज़े के अन्दर—किसी की बैठक भी होती थी
और मोटे पर्दे में लिपटा किसी का सोने का कमरा भी
और घरवालों के दु:ख
जो उनके ही होते थे, पर किसी समय मेरे भी होते थे
मेरी छाती की पीड़ा की तरह
पीड़ा, जो दिन के समय जागूं तो जाग पड़ती थी,
और रात के समय सपनों में उतर जाती थी,
पर फिर भी
पैरों के आगे, रक्षा की रेखा जैसी, एक लक्ष्मण-रेखा होती थी
और जिसकी बदौलत मैं जब चाहती थी
घरवालों के दु:ख घरवालों को देकर
उस रेखा से लौट जाती थी
और आते समय लोगों के आंसू लोगों को सौंप आती थी…
देख ! जितनी कहानियां और उनके पात्र हैं
उतनी ही चाबियां मेरे पास थीं
और जिनके पीछे
हज़ारों ही घर, जो मेरे नहीं, पर मेरे भी थे,
शायद वे कहीं अब भी हैं
पर आज एक चाबी का कौतुक
मैंने तेरे घर को खोला तो देखा
वह लक्ष्मण-रेखा मेरे पैरों के आगे नहीं, पीछे है
और सामने, तेरे सोने के कमरे में, तू नहीं—मैं हूं…

यह मेरी एकमात्र ऐसी कविता है जो अपने ही रचे पात्र को संबोधित करके मैंने लिखी है।

एक त्योरी

आज भी सामने देख सकती हूं—एक त्योरी है, मेरे पिता के माथे पर पड़ी हुई नहीं, माथे पर ठहरकर चालीस वर्षों से मुझे देख रही है, मेरी निगहबान, मेरी नज़र सानी कर रही है।

१६३६ के आरम्भ की बात है, जब मेरी पहली किताब छपी थी। महाराजा कपूरथला ने मेरी किताब को एक बुज़ुर्गाना प्यार देते हुए दो सौ रुपये मेरे नाम भेजे थे। और फिर थोड़े दिनों बाद महारानी नाभा ने (वह कभी मेरे पिताजी की शिष्या रही थीं) मुझे एक साड़ी का पार्सल उस किताब की प्रशंसा व्यक्त करते हुए भेजा था। ये दोनों चीजें डाक द्वारा आयी थीं। और फिर एक दिन, जब डाकिये ने घर का दरवाज़ा खटखटाया, मेरे बाल-मन ने उसी तरह के एक और मनीआर्डर या पार्सल की आस कर ली, मुंह से निकला —'आज फिर कोई इनाम आया है।'—और मुझे आज तक, अपने शरीर के कम्पन सहित, उसी तरह वह त्योरी याद है, जो मेरी ओर देखकर मेरे पिता के माथे पर पड़ गयी थी।

उस दिन इतना नहीं समझा था कि मेरे पिता मुझ में जैसा व्यक्तित्व देखना चाहते थे, मैं अपने उस एक वाक्य से उससे बहुत छोटी हो गयी थी, बस इतना समझा था कि ऐसी आशा या ऐसी कामना ग़लत बात है। यह क्यों गलत है, और यह किस जगह से एक लेखक को छोटा कर जाती है, यह बहुत समय बाद जाना।

और जब जाना—तब मेरे पिता के माथे के स्थान पर मेरा अपना माथा मेरा निगहबान बन गया। उसने मेरे ख़यालों की ऐसी रक्षा की कि फिर कभी मुझे अचेतन तौर पर भी ऐसा ख़याल नहीं आया।

आज सोचती हूं—दुनिया से कुछ भी लेने के ख़याल से वह एक त्योरी मुझे कैसे सदा के लिए मुक्त कर गयी, स्वतन्त्र कर गयी, तो उस त्योरी पर प्यार आ जाता है। हो सकता है—उस दिन वह मेरे पिता के माथे पर न पड़ती, तो मैं कभी उस जैसे विचार से ज़िन्दगी में अपना अपमान कर लेती। पर ख़ुश हूं, मुझे उस पिता का माथा नसीब हुआ था जिस पर वह त्योरी पड़ सकती थी।

एक और रात की बात

यह भी एक रात की बात है—आज से कोई चालीस बरस पहले की एक रात—मेरे विवाह की रात, जब मैं मकान की छत पर जाकर अंधेरे में बहुत रोयी थी। मन में केवल एक ही बात आती थी—अगर मैं किसी तरह मर सकूं। पिताजी को मेरे मन की दशा ज्ञात थी, इसलिए ढूंढते हुए छत पर आए। मैंने एक ही मिन्नत की—मैं विवाह नहीं करूंगी।

बरात आ चुकी थी, रात का खाना हो चुका था कि पिताजी को एक संदेशा मिला कि अगर कोई रिश्तेदार पूछे तो कह देना कि आपने इतने हज़ार रुपया

नक़द भी दहेज में दिया है।

इस विवाह से मेरे पिताजी को गहरा सन्तोष था, मुझे भी। पर इस संदेशे को पिताजी ने एक इशारा समझा। उनके पास इतना नक़द रुपया हाथ में नहीं था, इसलिए घबरा गये। मुझसे कहा—बस, उसी के कारण मेरे मन में विचार उठता था—अगर मैं आज रात मर सकूं।

कई घंटों की हमारी इस घबराहट को उस रात मेहमान के तौर पर आयी हुई मेरी मृत मां की एक सहेली ने कुछ भांप लिया, और अकेले में होकर अपने हाथ की सारी सोने की चूड़ियां उतारकर उसने मेरे पिताजी के सामने रख दीं। पिताजी की आंखें भर आयीं। पर यह सब कुछ देखना मुझे मरने से भी कठिन लगा···

फिर मालूम हुआ—यह सन्देशा किसी प्रकार का इशारा नहीं था, उन्होंने नक़द रुपया नहीं चाहा था, सिर्फ़ कुछ रिश्तेदारों की तसल्ली करने के लिए यह बात फैलायी थी। मां की सहेली ने वे चूड़ियां फिर हाथों में पहन लीं, पर ऐसा प्रतीत होता है—चूड़ियां उतारने का वह क्षण, दुनिया की अच्छाई का प्रतीक बनकर सदा के लिए कहीं ठहर गया है···विश्वास टूटते हुए देखती हूं, परन्तु निराशा मन के अन्त तक नहीं पहुंचती, इधर ही राह में कहीं रुक जाती है। और उसके आगे, मन के अन्तिम छोर के निकट, दुनिया की अच्छाई पर विश्वास बचा रह जाता है···

अन्तिम पंक्तियां

बहुत समय हुआ 'ग्रीक पैशन' में एक गडरिये लड़के की वार्ता पढ़ी थी, जो क्राइस्ट का नाटक खेलने के लिए क्राइस्ट चुना जाता है। पर इस पात्र की भूमिका अदा करने के लिए वह साधना करते-करते, पात्र के अस्तित्व में विलीन हो जाता है, इतना कि सारे गांव का विरोध सहन कर भी, उसकी दृष्टि में जो न्याय है, जब वह उसके लिए लड़ता है, तो गांव वाले उसे सचमुच पत्थर मार-मारकर मार देते हैं। एक ऐसा व्यक्ति, जिसने उसका अन्तर-बाह्य पहचान लिया था, उसे एक पहाड़ी पर दफ़न करते समय कहता है—'आज उसका नाम बर्फ़ के ऊपर लिखा गया है। बर्फ़ पिघलेगी, तो उसका नाम नदी-नालों के पानियों पर लिखा हुआ होगा।'

इसी बात को अगर अपने लिए कहूं, तो कहना चाहूंगी—'मेरे पास जो कुछ था, अगर आज बर्फ़ से दब गया है तो यह बर्फ़ जब पिघलेगी, इसके नदी-नाले

वे होंगे जो एक ईमान से, हाथों में नये कलम थामेंगे, और उन क़लमों की शिद्दत में, मेरा वह कुछ भी सम्मिलित होगा जो आज चुप की बर्फ़ के नीचे दबा हुआ है।

यथार्थ से यथार्थ तक

आत्मकथा को प्रायः चमकती-दमकती एकांगी सच्चाई समझा जाता है—आत्म-श्लाघा का कलात्मक माध्यम। पर बुनियादी सच्चाई को लेखक की अपनी आवश्यकता मानकर मैं कहना चाहूंगी—'यह यथार्थ से यथार्थ तक पहुंचने की प्रक्रिया है।'

एक कुछ वह होता है जो बिना कोई चेष्टा किये सामने दिखाई पड़ जाता है और एक केवल गौर से देखने पर दिखाई देता है, और एक विचारों की मिट्टी को छान-छानकर मिलता है। यथार्थ वह भी होता है, वह भी, और वह भी।

हर कला, निर्माण में से प्रति-निर्माण का नाम है। यह यथार्थ का प्रति-निर्माण भी यथार्थ है—सच्चाई की कोख में पड़कर फिर उस कोख में से निकली हुई सच्चाई। यथार्थ का प्रति-निर्माण यथार्थ से यथार्थ तक पहुंचने की प्रक्रिया है।

उपन्यास-कहानी का पाठक—पात्रों के चेहरों की कल्पना करता है, उनके दिलों की हलचल से उनके नैन-नक़्श चितवता हैं, पर किसी की आत्मकथा का पाठक अपना सारा ध्यान एक ही जाने हुए चेहरे पर केन्द्रित करता है। इसमें लेखक और पाठक परस्पर सम्मुख होते हैं। यह लेखक का अपने घर में पाठक को निजी बुलावा होता है—संकोच की ड्योढ़ी के भीतर की ओर। और यह केवल तब संभव होता है, जब लेखक का साहस उसके किसी सच की अपेक्षा कम न हो। इसमें कोई झूठ, मेहमान का नहीं, मेज़बान का अपना अपमान होता है।

लेखक दो प्रकार के होते हैं—एक जो लेखक होते हैं, और दूसरे, जो लेखक दिखना चाहते हैं। जो है, दिखने का यत्न उनकी आवश्यकता नहीं होता, वह हैं। और उनके अपने अस्तित्व की सच्चाई सच्चाई से कुछ भी कम स्वीकार नहीं कर सकती।

केवल इस पार के किनारे का यथार्थ, जैसे कला की नदी को चीरकर, उस पार के किनारे का यथार्थ बनता है, वह प्रक्रिया इस आत्मकथा में भी है। यह रचना की अपनी प्रक्रिया है।

मैं इसे 'यथार्थ से यथार्थ तक' कहना चाहूंगी।

जंग जारी है

यूं तो यह शीर्षक मैंने अपनी उस लेखमाला का रखा हुआ है जो आजकल प्रधानमन्त्री इन्दिरा गांधी पर बन रही फ़िल्म के बारे में लिखती हूं। यह फ़िल्म वासु भट्टाचार्य बना रहे हैं। मैं सिर्फ़ इस फ़िल्म की रचनात्मक क्रिया लिखती हूं। इन्दिरा जी की शूटिंग के समय साथ-साथ रहती हूं। उनसे देश की हालत के बारे में जो बातचीत होती है वह तो लिखती ही हूं, पर साथ ही शॉट कैसें और क्या सोचकर लिये जाते हैं, इन्दिराजी के व्यक्तित्व के गंभीर पहलू आम साधारण बातों में से भी कैसे उभरते हैं, या कुछ वे बातें जो फ़िल्म का हिस्सा नहीं बनतीं पर बड़े महत्त्व की होती हैं, उन्हें भी, जितनी वे पकड़ में आ सकें, लिखने का जतन करती हूं। उदाहरण के तौर पर—उनके कमरे की एक दीवार पर नेहरूजी और मोतीलालजी के कुछ चित्र हैं। वासु दा ने उनके शॉट लेते समय इन्दिराजी से कहा—'इन तसवीरों को देखते हुए, जैसे अचानक उन पर कुछ धूल पड़ी हुई दिखाई दे और आप अपनी धोती के पल्ले से उसे पोंछ रही हों।' स्पष्ट है कि वासु दा इस शॉट में इन्दिराजी को समय की धूल पोंछते हुए दिखाना चाहते थे। पर इन्दिरा जी ने निश्चित स्वर में 'नहीं' कह दिया। कहने लगीं, 'डस्टर लेकर पोंछ सकती हूं, पर अपनी धोती के पल्ले से नहीं···तसवीर चाहे किसी भी खास व्यक्ति की हो यह सवाल नहीं है, जो अच्छे लगते हैं, वे हर समय खयालों में रहते हैं, तसवीरों में नहीं। धोती के पल्ले से पोंछूं तो मुझे धोती बदलनी पड़ेगी···मुझे धूल से कोई प्यार या श्रद्धा नहीं है···'

ठीक है, जो उनके विचार में नहीं है, वह किसी शॉट में नहीं आना चाहिए। उन्होंने डस्टर से तसवीरें पोंछीं और वासु दा ने शॉट ले लिया। पर यह उनका दृष्टिकोण फ़िल्म में नहीं आएगा, और बहुत कुछ जो फ़िल्म में नहीं आ सकता उसे समझने और जानने में मैं इस फ़िल्म का माहौल और इसकी तैयारी के समय का हाल लिखती हूं।

इसकी एक शूटिंग के समय मैंने उनसे पूछा था, 'इन्दिराजी! आप औरत हैं, क्या कभी इस बात को लेकर लोगों ने आपके रास्ते में रुकावट पैदा की है?' तो उनका जवाब था, 'इसके कुछ एडवान्टेजिज़ भी होते हैं, कुछ डिसएडवान्टेजिज़ भी। पर मैंने कभी इस बात पर ग़ौर नहीं किया। औरत-मर्द के फ़र्क़ में न पड़कर मैंने

अपने आपको हमेशा इंसान सोचा है। शुरू से जानती थी—मैं हर चीज़ के क़ाबिल हूं। कोई समस्या हो, मर्दों से ज़्यादा अच्छी तरह सुलझा सकती हूं। सिवाय इसके कि जिस्मानी तौर पर वहुत वज़न नहीं उठा सकती, और हर वात में हर तरह क़ाबिल हूं। इसलिए मैंने अपने औरत होने को कभी किसी कमी के पहलू से नहीं सोचा। जिन्होंने शुरू में मुझे सिर्फ़ औरत समझा था, मेरी ताक़त को नहीं पहचाना था, वह उनका समझना था, मेरा नहीं···लोग कुछ वातें करते होंगे, वहुत-सी तो मुझ तक पहुंचतीं ही नहीं। जो पहुंचती हैं उनका मैं कोई महत्त्व नहीं समझती।'

दृष्टिकोण मेरा भी यही था। पर इन्दिराजी के लिए जो मन की सहज अवस्था है मेरे जैसे साधारण इंसान के लिए एक उस मंजिल की तरह थी जिसका रास्ता वड़ा दुर्गम हो। ठीक है, अव उतना कठिन नहीं, पर मेरी यह जंग अभी भी जारी है···इस शीर्षक को मैंने इन्दिराजी की राजनीतिक जद्दोजहद के सिलसिले में इस्तेमाल किया था, पर यहां अपने निजी जीवन के संवंध में इस्तेमाल कर रही हूं, चाहे उसके मुक़ावले में इसका महत्त्व वहुत कम है।

वहुत पुरानी वात है जव पटेलनगर के मकान में अभी विजली नहीं लगी थी, और मैं दिल्ली रेडियो में नौकरी करती थी। पड़ोसी के घर में एक रेडियो था जो वैटरी से चलता था, और मेरे दोनों छोटे-छोटे वच्चे वहां चले जाते थे, शाम को मेरी आवाज़ सुनने के लिए। पर एक दिन मैं रात को जव घर आयी तो मेरा वेटा मुझसे कहने लगा—'मामा! एक वात मानेंगी? आप भोलू के रेडियो पर मत वोला करें।'

मालूम हुआ कि मेरे वेटे से भोलू की लड़ाई हो गयी थी—और जिसके घर वह नहीं जा सकता था, वहां मेरी आवाज़ भी नहीं जानी चाहिए थी।

तव अपने चार वरस के वेटे की इस वात पर हंस दी थी, पर आज यह वात याद आयी है तो हंस नहीं सकती। सोचती हूं—काश, मेरी यह किताव भी उनके हाथों में न जाए जिन्होंने इसके एक-एक अक्षर को मिट्टी में लथेड़ना है।

कुछ दोस्तों की सलाह है—मैं इस किताव को दूसरी भाषाओं में छपवा लूं, पर पंजावी में नहीं। पर जानती हूं, मेरी भाषा के गंभीर पाठक यह नहीं चाहेंगे, इसलिए मैं, किसी भी मूल्य पर, अपनी भाषा को और उसके पाठकों को छोटा नहीं करना चाहूंगी।

सो, मूल्य चुकाने के लिए तैयार हूं।